# साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

संपादक
डॉ॰ कलानाथ मिश्र

यहाँ से काटिए

**साहित्य यात्रा**
साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

**संपादक**
**साहित्य यात्रा**

प्रिय महोदय,
'साहित्य यात्रा' के

| | | |
|---|---|---|
| एक वर्ष (4अंक) | : | 300 /- (डाक खर्च सहित) |
| तीन वर्ष (12 अंक) | : | 750 /- (डाक खर्च सहित) |
| संस्थागत मूल्य (3 वर्ष) | : | 1100 /- |
| आजीवन सदस्यता | : | 11000 /- |
| विदेश के लिए (3 वर्ष) | : | $ 60 डॉलर |

*(पटना के बाहर का चेक पर कृपया बैंक कमीशन के 40/- रुपये उसमें अतिरिक्त जोड़ दें)*

उक्त दर के अनुरूप मैं चेक / ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे ग्राहक बना कर मेरी प्रति निम्न पते पर भिजवाएँ।

नाम : .....
पता : .....
.....
.....
.....
फोन : .....

चेक/ड्राफ्ट संपादक / प्रसार व्यवस्थापक, **साहित्य यात्रा,** पटना के नाम पर ही बनाएँ और निम्नलिखित पते हमें भेजने की कृपा करें :-

संपादक
साहित्य यात्रा
ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001 (बिहार)
फोन : 9835063713
ई-मेल : shahityayatra@gmail.com
वेब साईट : http:/www.sahityayatra.com

**अंक आप साहित्य यात्रा के पते पर मनीऑर्डर भेज कर भी मंगा सकते हैं।**

# साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

वर्ष-2 अंक-8 जनवरी-जून, 2016

**परामर्शी**

डॉ॰ सूर्य प्रसाद दीक्षित

डॉ॰ श्रीरंजन सूरिदेव

डॉ॰ रामशोभित प्रसाद सिंह

डॉ॰ संजीव मिश्र

**सम्पादकीय सलाहकार**

श्री आशीष कंधवे

**सहायक संपादक**

डॉ॰ सत्यप्रिय पाण्डेय

डॉ॰ रवीन्द्र पाठक

**आवरण चित्रांकन**

इंदु मिश्र

**व्यवस्थापकीय सहयोग**

श्री अमित मिश्र

**संपादक**

**डॉ॰ कलानाथ मिश्र**

साहित्य यात्रा में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखकों के हैं जिनसे संपादक, प्रकाशक, मुद्रक एवं पत्रिका से जुड़े किसी भी व्यक्ति का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सभी विवादों का निपटारा पटना क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित है। पत्रिका में संपादन से जुड़े सभी पद गैर-व्यावसायिक एवं अवैतनिक है।

# साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

RNI No. : BIHHINO5272
ISSN 2349-1906

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के पुनः उपयोग के लिए लेखक,
अनुवादक अथवा **साहित्य यात्रा** की स्वीकृति अनिवार्य है।

संपादकीय कार्यालय
'अभ्युदय'
ई-112, श्रीकृष्णपुरी
पटना-800001 (बिहार)
मोबाइल : 09835063713
ई-मेल : sahityayatra@gmail.com
वेब साईट : http:/www.sahityayatra.com

मूल्य : ₹ 45

| | | |
|---|---|---|
| शुल्क दर : | एक वर्ष (4 अंक) | 300 |
| | तीन वर्ष (12 अंक) | 750 |
| | (डाक खर्च सहित) | |
| | संस्थागत मूल्य (3 वर्ष) | 1100 |
| | आजीवन सदस्यता | 11,000 |
| | विदेश के लिए | 60 डॉलर (3 वर्ष) |

शुल्क **'साहित्य यात्रा'** के नाम पर भेजें।

'साहित्य यात्रा' त्रैमासिक डॉ॰ कलानाथ मिश्र के स्वामित्व में और उनके द्वारा 'अभ्युदय' ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001, बिहार से प्रकाशित तथा ज्ञान गंगा क्रियेशन्स, पटना से मुद्रित। स्वामी/संपादक/प्रकाशक/मुद्रक : डॉ॰ कलानाथ मिश्र।

# अनुक्रम

**संपादकीय** 07-08
डॉ. कलानाथ मिश्र

---

**आलेख**

त्रैयंबक नाथ त्रिपाठी
**निषेध और विधि का सौन्दर्यशास्त्री - क्रोचे** 09-16

डॉ. उषा कुमारी
**रामधारी सिंह दिनकर** 17-23

सत्यप्रिय पाण्डेय
**फगुआ गीत** 24-28

डॉ. शहाबुद्दीन
**हिन्दी ग़ज़ल की परम्परा और प्रयोग** 29-36

अमरेन्द्र कुमार पाण्डेय
**संकोच से मुक्त होती नारी और देवताले की कविता** 37-43

अवनीश मिश्र
**रूप और भाषा का प्रश्न** 44-48

राजकुमार
**भूमिअधिग्रहण की समस्याएं और गांव का उत्तर-यथार्थ** 49-59

अरूणाकर पाण्डेय
**खोजने दो मुझे अपना खुद का वसंत!** 60-65

डॉ. श्रुति आनंद सिंह
**हिंदी और उर्दू की स्त्रीवादी कविता का तुलनात्मक अध्ययन** 66-69

संदीप कुमार जायसवाल
**निर्मल वर्मा की कहानियों में स्मृति-तत्व** 70-78

प्रकाश चन्द्र
**आत्मकथा की संस्कृति और मुर्दहिया** 79-84

करूणा पीटर
**हिंदी साहित्य में नारी चिंतन** 85-91

रेणु कुमारी
**डा. शहनाज फातमी की कथा दृष्टि** 92–94
जयवर्द्धन शिशिर
**नयी कहानी और शिवप्रसाद सिंह का अवदान** 95–98
प्रशांत रमण रवि
**संत पलटूदास की सामाजिक दृष्टि** 99–105
गुड़िया कुमारी
**हिंदी नवजागरण के अग्रदूत राधामोहन गोकुल** 106–109

राकेश अचल
**ग़ज़ल** 110

## कविता

अमित कुमार
**बेजमीन** 111

## रिपोर्ट

ऋषिकेश पाठक
**एक नदी मेरा जीवन : विशुद्धानंद** 112–114

## दस्तावेज

श्री राहुल सांकृत्यायन
**मैना** 115–118

कृष्ण वीर सिंह सिकरवार
**पुस्तक-समीक्षा** 119–120

# सम्पादकीय

जीवन के रास्ते सीधे सपाट नहीं होते । जीवन के रास्ते उबर खाबर कंकड़ीले, सर्पिले हुआ करते है। अनेक टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होते हुए हम सीधे समतल मार्ग पर पहुँचते तो हैं, पर कुछ दूर की यात्रा के उपरान्त पुनः उन्हीं पगदंडियों के टेढ़े-मेढ़े रास्ते से हमें गुजरना पड़ता है। इस मार्ग से गुजरते हुए फूल-काँटे, जंगल-उपवन, नदी-पठार सभी से हम प्रभावित होते चलते हैं। निश्चय ही सभी का प्रभाव हमारे चिंतन, लेखन पर भी पड़ता है। सुख-दुःख, हास्य-व्यंग्य, हर्ष-विषाद, चिंतन-मनन सभी जीवन की घटनाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। संवेदन की सूक्ष्मता, तीव्रता शिथिलता सभी परिस्थितियों से प्रभावित, प्रतिध्वनित होते रहते हैं। जीवन की लीला साँप-सीढ़ी के खेल की तरह है। काल रूपी साँप क्षण में ऊँचाईयों से हमें जीवन के धरातल पर लाकर छोड़ देता है। जीवन पुनः हमें सहलाता है हमारी पीठ थपथपाता है, ढ़ाढ़स बँधाता है और पुनः हम, कर्म की सीढ़ियों पर धीरे-धीरे चढ़ने लगते हैं।

जीवन संगिनी के देहावसान ने मुझे जीवन के क्रूर यथार्थ से सामना कराया। ऐसा नहीं कि यह कोई ऐसी घटना है जो मात्र मेरे जीवन में घटित हुई है। इस लोक में जीवन-मृत्यु की घटना तो अहर्निश घटित होती रहती है। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि व्यक्ति इन घटनाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। हाँ प्रभाव की तीव्रता, तीक्ष्णता, उसके आवेग-संवेग मनुष्य की प्रकृति के अनुरूप पृथक हो सकता है। पत्नी के वियोग ने मुझे झकझोड़कर रख दिया। इस घटना से दुःख और शोक के भेद की गहरी प्रतीति हुई। कहते हैं कि समय सभी घावों को भर देती हैं। घावों को भरने के लिए समय से सटीक कोई दूसरी दवा नहीं। किन्तु सच तो यह है कि समय घावों को भरती नहीं। उस पीड़ के साथ जीने के लिए विवश कर देती है। जो भी हो जीवन पटरी से उतर गया। जीवन की यात्रा शिथिल पड़ गयी। और इसका प्रत्यक्ष प्रभाव **'साहित्य यात्रा'** की

अनवरत यात्रा पर भी पड़ना स्वाभाविक ही था। 'साहित्य यात्रा' की यात्रा की निरंतरता भी तनिक बाधित हुई। किन्तु साहित्य और समाज के प्रति 'साहित्य यात्रा' की जिम्मेवारियों का अहसास ने पुनः उसे सीढ़ियों पर चढ़ने के लिए बाध्य कर दिया। यही कारण है कि विलम्ब से ही सही यह अंक संयुक्तांक के रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। इस अंक के लिए आलेख उपलब्ध कराने में श्यामलाल कॉलेज में हिन्दी के प्राध्यापक मेरे अनुजवत डा. सत्यप्रिय पाण्डेय जी का सहयोग सराहनीय है। वे सहयोगी संपादक के रूप में पत्रिका परिवार से जुड़े हैं, उन्हें शुभकामनाएँ और साधुवाद देता हूँ।

इस अंक में कई शोधपूर्ण आलेख प्रकाशित करने का प्रयास हमने किया है। हिन्दी के विद्वानों ने विभिन्न विषयों पर अपने सुचिंतित आलेख से पत्रिका को जो रचनात्मक सहयोग दिया है उसके लिए उन सृजनधर्मी विद्वानों को साधुवाद देता हूँ। इन आलेखों के माध्यम से हम साहित्य की वर्त्तमान प्रवृत्तियों तथा गति से तो हम परिचित होते ही हैं, समाज के वर्त्तमान स्वरूप को भी करीब से जानने परखने का अवसर हमें मिलता है। समाज को देखने का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है। कुछ विचारक आनन्द, उत्सव, आदि के व्यक्ति की आमदनी, उसकी आर्थिक स्थिति से जोड़कर देखते हैं। वे साहित्य में ऐसे विचार व्यक्त करते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि गरीब, होली, दिवाली, ईद का आनन्द नहीं उठा पाते। उनके लिए इन त्योहारों, उत्सवों अथवा शिशिर, बसन्त, बरसात जैसे ऋतुओं आदि का कोई महत्व नहीं। मेरा मानना है कि मनुष्य के मन को ठीक से यदि पढ़ा जाय तो पता चलता है कि आर्थिक स्थिति का उनके चिंतन, उनकी मनोदशा पर दीर्घकालिक प्रभाव उनपर नहीं होता है। एक से एक निर्धन होली में जब फगुआ गीतों का तान छेड़ते हुए ऐसे पुलक उठता है जो बड़े बड़ों को नसीब नहीं। आकाश में उमड़ते-घुमड़ते बादलों को देख चरवाहे ऐसे खिल उठते हैं, मावो अपूर्व वैभव मिल गया हो। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पन्नता-विपन्नता सापेक्ष भाव हैं। मनुष्य का मनोभाव इससे प्रभावित तो होता है किन्तु उत्सव त्योहारों का आनन्द सभी अपनी-अपनी सीमाओं में लेते ही हैं। वे सदैव मनुष्य को नव उर्जर प्रदान करने की दृष्टि से आवश्यक रहेंगे ही।

आशा है पाठक इस अंक में प्रकाशित रचनाओं से संतुष्ट होंगे। पाठकों की प्रतिक्रियाओं की प्रतीक्षा हमें सदैव रहती है। मुद्रणादोष के लिए क्षमा याचना के साथ ही आप सबों को नवरात्रा की शुभकामनाएँ।

**आपका**
**डॉ. कलानाथ मिश्र**

# 'निषेध और विधि का सौन्दर्यशास्त्री'-क्रोचे

त्रैयंबक नाथ त्रिपाठी

**'आनंद' को भी दार्शनिक चिन्तन की दोनों भारतीय और पाश्चात्य धाराओं ने 'अलौकिक आनंद' के रूप में परिभाषित किया है। इसी आधार पर क्रोचे भी बहुत ही साधारण सा अनुमान लगाता है कि ''कला परमसत्य रूप होती है, जिसके लिए बहुत सारे लोग अपना पूरा जीवन अर्पित कर देते हैं और जो सबमें एक अलौकिक आनंद भर देती है।**

क्रोचे मूलत: दार्शनिक थे। उनके पीछे एक ऐसी लम्बी दार्शनिक परम्परा थी जिसने किसी न किसी बहाने सौन्दर्यशास्त्र के मूल तत्त्वों पर विचार-विमर्श किया। इसी सन्दर्भ में 'कला' पर भी खूब विचार किया गया। लगभग सभी दार्शनिकों ने 'कला' को अपना विवेच्य विषय बनाया। क्रोचे के सामने पश्चिम की जो 'कला-चिंतन' की धारा थी वो उनकी नज़र में तमाम प्रकार की सैद्धान्तिकियों की शिकार थी। ''इतिहास में ऐसे युग आए हैं जिनमें अपरिपक्व एवं विकृत कला सिद्धांतों का बोलबाला रहा।''[1] यहाँ क्रोचे ने एक प्रकार से कला विषयक विवेचनों की अपर्याप्तता का संकेत दिया है। यह समूची परम्परा के खिलाफ कठोर असहमति का स्वर है।

सैद्धांतिक विरोध और असहमति के क्रम में 'फ्रायड' और 'प्लेटो' दोनों ही उनके जबरदस्त निशाने पर थे। यह विरोध 'व्यक्तिवाची' नहीं बल्कि 'परम्परावाची' था। कारण यह कि ये दोनों ही चिंतक कला विषयक चिंतन की परम्परा में मील के पत्थर थे। क्रोचे के विरोध का स्वर और उसकी तीव्रता को इस उद्धरण को सुपरीक्षित करके देखा जा सकता है। ''कोई भी संतुलित व्यक्ति

यह नहीं कह सकता कि कला काम-प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब है अथवा कोई भी अपकार करने वाली चीज है जिसका सुसंगठित राज्यों से बहिष्कार होना अपेक्षित है।''[2]

एक प्रकार से पूर्ववर्ती कला विषयक विवेचन और विवेचकों के प्रति क्रोचे ने 'नेहलिस्ट अप्रोच' विकसित किया और आगे यही अप्रोच उनकी प्रतिष्ठा का आधार बना। इस 'मेथड' से 'अनुभूति की प्रक्रिया' का एक जबरदस्त आधार निर्मित हुआ जिसको क्रोचे ने कला विवेचन के लिए 'टूल्स' के रूप में अपनाया। यह उनके चिंतन का केन्द्रीय आधार है। इसी आधार पर कला को परिभाषित करते हैं कि ''कला सहजानुभूति है।''[3] इस परिभाषा को क्रोचे के ही शब्दों में और खुलकर समझा जा सकता है कि ''जिस रूप में उसे हर कोई जानता है वही कला है।''[4]

**अभिप्राय यह कि व्यक्ति की अनुभूति का पहला प्रस्फुरण ही कला है। अतः क्रोचे की चिंतन-प्रणाली का केन्द्रीय तत्त्व 'अनुभूति' है। यही 'अनुभूति' संकल्पनात्मक रूप में 'सौन्दर्यानुभूति' में परिवर्तित हो जाती है। अतः 'अनुभूति' और 'सौन्दर्यानुभूति' के मायने यहाँ एक ही है। यही नहीं इनके यहाँ 'अनुभूति' के लिए और भी समानार्थी शब्द हैं - ''कला सम्प्रतीति (vision) अथवा सहजानुभूति है।** कलाकार एक बिम्ब अथवा छायाभास (Phantasm) का सृजन करता है। जो कोई कला का रसवास्वादन करता है वह कलाकार की ही व्यंजना पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और कलाकार द्वारा खोले गए वातायन से झाँकता है तथा अपने अंतर से उस बिम्ब की प्रतिसृष्टि (Reproduce) करता है। सहजानुभूति (Intuition), सम्प्रतीति (Vision), भावन (Contemplation), कल्पना (Imagination) कृत्रिम कल्पना (Fancy), मूर्तविधान (Figuration), प्रतिरूपण (Representation) आदि का प्रयोग बारम्बार कला के विवेचन में पर्यायों के रूप में होता है और ये सभी अंतः करण को उस धारणा की ओर ले जाते हैं जो 'सामान्य सहमति' (General Agreement) का द्योतक है।''[5]

यहाँ इस उद्धरण में कई प्रकार के शब्द ऐसे हैं जिन पर विचार करना आवश्यक दिखता है। जैसे कलाकार एक बिम्ब अथवा 'छायाभास' का सृजन करता है। यहाँ 'छायाभास' एक सैद्धान्तिक डेवेलपमेन्ट है। अभिप्राय यह है कि कला और वास्तविकता में अंतर होता है। यह 'छायाभास' वास्तव में बिम्बानुवर्तन की क्रिया है और इसका सीधा सम्बंध हमारे देखने से है। दरअसल दार्शनिक आधार पर देखा जाय तो भीतर तो कुछ होता ही नहीं, जो कुछ है वो बाहर ही होता है। बाहर से ही भीतर प्रभावित होता है और बिम्ब की निर्मिति भीतरी प्रक्रिया है। विज्ञान भी यही बात कहता है कि जो कुछ भी हम देखते हैं वह एक 'प्रतिबिम्ब' होता है। यानि कि वास्तविक वस्तु और प्रतिबिम्ब में कई प्रकार का 'डिस्टेंस' होता है। क्रोचे इसी 'डिस्टेंस' को बड़ी गहराई से पकड़ता है और उसको पाटने के लिए 'सामान्य सहमति' की प्रक्रिया को विकसित करता है। यहाँ 'सामान्य सहमति' टर्म एक पारिभाषिक शब्द के रूप में आया है। यह समूचा 'कन्सेप्ट' कला और

कलाकार के माध्यम से सौन्दर्यशास्त्र की नई समझ को प्रस्तावित करता है। पहला तो यह है कि क्रोचे ने जहाँ 'नेहलिस्ट अप्रोच' से पूर्ववर्ती चिंतन धाराओं की सीमाओं को रेखांकित किया तो वहीं 'कला-सहजानुभूति है' को कला विवेचन के लिए टूल्स (tools) के रूप में विकसित किया। यह कहने में कोई विरोध नहीं दिखता है कि क्रोचे वास्तव में 'निषेध' और 'विधि' का सौन्दर्यशास्त्री हैं- कला सम्बंधी विवेचन में कला की परिभाषा तकनीकि के रूप में काम करती नज़र आती है और क्रोचे ने इस तकनीकि का प्रयोग पूर्व प्रचलित धारणाओं को तोड़ने और नकारने के लिए किया। इस सन्दर्भ में वह कहता है कि 'कला सहजानुभूति है' मेरे इस उत्तर की सशक्तता और सार्थकता इस बात में है कि यह परोक्ष से किन-किन धारणाओं का खण्डन करके कला को उससे पृथक करता है। इस उत्तर से कौन-कौन से निषेध व्यंजित होते हैं? (यहाँ पर) मैं उन (निषेधों) की ओर संकेत करूँ जो हमारी सभ्यता के वर्तमान युग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।''[6]

पूर्व प्रचलित मान्यताओं को स्वस्थ सौन्दर्यशास्त्रीय चिंतन के लिए निषेध के रूप में देखता है। जिस पहली मान्यता के खण्डन की बात वह कहता है वह यह है कि ''कला एक भौतिक वस्तु (physical fact) है''।[7] कला के सन्दर्भ में क्रोचे इस तथ्य को सहर्ष और सहज ही स्वीकार नहीं करता। इसके पीछे पहला कारण यह है कि वह आत्मवादी दार्शनिक है और दूसरा कारण यह कि ''कला के भौतिकीकरण (physicising) की यह भ्रांतिपूर्ण प्रवृत्ति साधारण विचार विमर्श में पहले से ही विद्यमान है।''[8] लेकिन कुल मिलाकर यह दिखता है कि इन तमाम धारणाओं के निषेध और एक ख़ास प्रकार की समझ के पीछे क्रोचे की आत्मवादी दार्शनिक प्रज्ञा काम कर रही है। भारतीय 'चार्वाक' और पाश्चात्य 'सोफिस्ट' दार्शनिक परम्परा को छोड़ दिया जाय तो लगभग सभी चिंतन धाराएँ सर्वमान्य रूप से इस सिद्धांत की सिद्धि और प्रतिपादन को खूब ही व्याख्यायित करती हैं कि भौतिक वस्तुओं की सत्ता स्थायी और शाश्वत नहीं होती। क्रोचे भी इस धारणा को स्वीकार करता है कि ''पहले तो भौतिक वस्तुएँ सत्य रूप नहीं होतीं।''[9]

'आनंद' को भी दार्शनिक चिन्तन की दोनों भारतीय और पाश्चात्य धाराओं ने 'अलौकिक आनंद' के रूप में परिभाषित किया है। इसी आधार पर क्रोचे भी बहुत ही साधारण सा अनुमान लगाता है कि ''कला परमसत्य रूप होती है, जिसके लिए बहुत सारे लोग अपना पूरा जीवन अर्पित कर देते हैं और जो सबमें एक अलौकिक आनंद भर देती है। अतएव इसका सम्बंध एक भौतिक वस्तु से नहीं हो सकता जो सर्वथा असत्य रूप होती है।''[10] अत: अलौकिक आनंद को प्राप्त करने के लिए सत्यरूप और स्थायी विधान की आवश्यकता होगी। मोटे तौर पर क्रोचे की मीमांसा इस बात की ओर संकेत करती है कि 'साध्य' के हिसाब से ही 'साधन' का चयन होना चाहिए। सभी 'साधनों' से सभी प्रकार के 'साध्यों' को लक्षित नहीं किया जा सकता। तो यहाँ एक प्रकार से 'मूल्य सिद्धांत' पर आधारित सम्प्रेषणात्मक संघटना की ओर संकेतार्थ निकलता है।

क्रोचे के विचार का दूसरा मुद्दा कला की उपयोगिता को लेकर है। कहता है कि ''यदि कला सहजानुभूति है और सहजानुभूति 'भावन' (contemplation) के मौलिक अर्थ 'सिद्धांत' (theory) की पर्याय है तो कला एक उपयोगी (utilitarian) व्यापार नहीं हो सकती।''[11] यहाँ भी क्रोचे की दार्शनिक प्रज्ञा काम करती दिख रही है। वैसे काव्य और कला की सृजनात्मक स्थिति के मूल में उसकी उपयोगिता और प्रयोजनमूलकता ही काम करती है। आमतौर पर प्रमाता प्रमेय, सहृदय या सामाजिक आदि को कला कैसे प्रभावित करती है, और कैसे प्रभावित करनी चाहिए? जैसी विचार श्रृंखलाओं का बोलबाला रहता है। लेकिन क्रोचे इस उपयोगितावादी थियरम को दूसरे हिसाब से भी देखने की कोशिश करता है। किसी भी घटना या निर्मिति के परिणाम को आधार बनाकर यदि उसका परीक्षण किया जाय तो घटना या उस निर्मिति का संज्ञान हो जाना चाहिए। जैसे गणित विज्ञानी सवाल के परिणाम से चलकर सवाल को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार क्रोचे कला के सुखात्मक और दु:खात्मक होने से नहीं बल्कि सुखात्मक और दु:खात्मक व्यापार से कला को देखने के हिमायती है।

''वास्तव में, बिना झंझट के यह सर्वथा मान्य होना चाहिए कि किसी प्रकार का सुख, सुख के ही रूप में, स्वयं कलात्मक नहीं हो सकता। ऐसे जल का सुख जिससे प्यास बुझती है या खुली हवा में भ्रमण जिससे हमारे अंगों का आयाम होता है और रक्त का संचार अपेक्षाकृत अधिक सरलतापूर्वक होता है अथवा ऐसे चिर अभीष्ट पद की प्राप्ति जिससे हम व्यवहारिक जीवन में एक निश्चितता प्राप्त करते हैं - यह सभी कलात्मक तो नहीं।''[12] अभिप्राय यह कि एक कला से सुख और दु:ख जैसी स्थिति को सदैव प्राप्त करने का सिद्धांत ठीक नहीं दिखता। इस धारणा को और स्पष्ट करते हुए क्रोचे और स्पष्टत: स्वीकार करता है कि ''प्रतिरूपित चित्र (represented figure) हमें बड़ा प्रिय होने और हमारे सामने अत्यन्त सुखद स्मृतियाँ उपस्थित करने की क्षमता रखने पर भी कुरूप हो सकता है (अर्थात् जो सुखद है वह अनिवार्य रूप से सुन्दर नहीं) अथवा दूसरे दृष्टिकोण से चित्र सुन्दर होने पर भी घृणा उत्पन्न कर सकता है।''[13] अत: रोमांटिसिज्म के दौर में रोमांटिक कवियों द्वारा सत्य, सुन्दर और सुख को स्वीकार करने से थोड़ा यह उलट का मामला है। 'कीट्स' कहता है कि -

**''सत्य ही सुन्दर है**
**और सत्य सुन्दर**
**यही कुल जानना है**
**और इतना जान लेना ही काफ़ी है**
**इस धरती पर''**

इसको क्रोचे व्यवहारिक हित के रूप में देखता है और कहता है कि यह सुखवादी सौन्दर्यशास्त्र का हिस्सा है। कुल मिलाकर यह कि क्रोचे कला की उपयोगितावादी स्थिति को वैसे ही नहीं देखता जैसे कि एक लम्बी परम्परा ने कला के उपयोगिता के सिद्धांत को विकसित किया था। कला के उपयोगी पहलू की सूक्ष्मतम पहचान, विरोधी प्रवृत्तियों और स्थितियों के माध्यम से करता है। जैसे किसी चित्र की कुरूपता भी आनंददायक हो सकती है। क्रोचे कहीं न कहीं भावों के विरोधी स्वरूप को नए सन्दर्भ में विवेचित करता है। उसका यह दृष्टिकोण भारतीय चिंतन का संस्करण दिखता है। भारतीय चिंतन धारा में 'मोक्ष' की अवधारणा के साथ ही साथ एक प्रकार की अलग स्थिति का भी बोलबाला रहा है और वह स्थिति है 'पेन' (दु:ख) और 'प्लेजर' (आनंद) की। 'मोक्ष' बिना मृत्यु के संभव नहीं है लेकिन दूसरी स्थिति में शरीरवान रहना अनिवार्य है। महादेवी वर्मा की इस कविता में दूसरी स्थिति को देखा जा सकता है –

**''मिलन का मत नाम लो,**

**मैं विरह में चिर हूँ''**

यह विरह ही एक प्रकार से आनंद का अभिप्राय बन जाता है और इन्हीं विरोधी प्रवृत्तियों की पड़ताल वह अपने कला सम्बंधी चिंतन में बार-बार करता है। कहता है कि ''कोई बालक छूता तो है साबुन का फेन पर सतरंगी इन्द्रधनुष को छूने की कामना करता है।''[14] यही बात महादेवी वर्मा की उपर्युक्त पंक्तियों से भी स्पष्ट होती है कि कामना तो 'आनंद' प्राप्त करने की है लेकिन माध्यम विरह (दु:ख) बनता है और क्रोचे बड़ी ही बेबाकी से यह स्वीकार करता है कि ''सुख और कला के बीच का अंतर उन सम्बंधों से सुस्पष्ट हो जाता है जो हमारे और कलाकृतियों के मध्य विकसित होते हैं।''[15] अत: क्रोचे की यह धारणा उपयोगितावादी खेमे में एक नई समझ को विकसित करने की कवायद है।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में क्रोचे के सन्दर्भ में दो बातें बहुत ही स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई हैं। इनमें पहली बात तो यह है कि क्रोचे ने 'बाह्य जगत' की सत्ता को नकार दिया और दूसरी बात यह कि कला की उपयोगितावादी सोच भी इनकी नज़र में बेकार की है। इन दोनों ही बातों के सन्दर्भ में मेरी समझ थोड़ी अलग है। पहली बात तो यह 'नकारा' नहीं बल्कि उसको 'मोडीफाइड' किया। मोडीफिकेसन यह कि बाह्य जगत की स्थायी सत्ता नहीं होती। उसमें शाश्वतता नहीं होती और अगर 'सत्ता' जैसा शब्द अपने आप में पूर्ण होता और एक ही प्रकार के अर्थ को द्योतित करता तो उसके साथ 'स्थायी-सत्ता' और 'अस्थायी-सत्ता' जैसे रूप निर्मित करने की क्या आवश्यकता पड़ती? अभिप्राय यह कि अस्थायी सत्ता से अस्थायी भावों का ही सृजन किया जा सकता है न कि स्थायी भावों का।

इसी प्रकार उपयोगिता के सवाल को भी देखा जा सकता है। यहाँ भी परम्परागत नजरिये

से अलग हटकर क्रोचे ने विचार किया। कला का सृजन हुआ ही नहीं कि उपयोगिता का प्रश्न पहले खड़ा हो जाता है। प्रथमत: तो वह यह सिद्ध करता है कि सच्ची कला का सुख और दु:ख से कोई विशेष सम्बंध नहीं होता। यह तो बाद का व्यापार है। अत: पहली नज़र में 'कला और 'उपयोगिता' का कोई सम्बंध नहीं दिखता। क्रोचे कला को कला के रूप में देखने का हिमायती है। उपयोगितावादी इस पेंच को वह सहजानुभूति से ही हल करता है कि ''सूक्ष्म रूप से सहजानुभूति का अर्थ है सत्यासत्य का अभेद, चित्र का चित्र के रूप में ग्रहण, चित्र की नितांत आदर्शमयता (ideality)।''[16] क्रोचे का कला की उपयोगिता के सन्दर्भ में इस प्रकार का प्रतिपादन भारतीय चिंतन परम्परा में स्थापित वीतराग वाली स्थिति को व्यक्त करता है। यहाँ कला न तो दैवीय आवेश की परिणति है और न ही प्रयत्न लाघव से नि:सृत है। यहाँ व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी कोई मिलाप नहीं दिखता। यह एक तीसरी चिंतनावस्था है जिसमें वीतरागिता है। भारतीय चिंतन में विरागिता ही साधारणीकरण है। अर्थात् अपने-पराये, रागद्वेष आदि तमाम प्रकार के भावों का तिरोहित हो जाना। यह एक सात्विक भावन है। यही प्रक्रिया ही कला को आह्लादिकारणी बनाती है। अत: यह कहना शायद ठीक ही है कि उनके समूचे चिंतन में वीतरागीयता जैसी स्थिति आद्यान्त विद्यमान है।

कला का सम्बंध नैतिकता से है। ऐसी सर्वस्वीकृत धारणा है। क्रोचे इस धारणा का भी निषेध करता है। '''कला सहजानुभूति है' इस परिभाषा से जिस तीसरे निषेध की व्यंजना होती है वह यह है कि कला नैतिक व्यापार नहीं है।''[17] दरअसल इन तमाम निषेधों को निर्मित करने में एक और टेक्नीक का प्रयोग क्रोचे बारबार करते हैं और वह टेक्नीक है 'तर्क-न्याय' (logic)। दार्शनिक चिन्तन प्रणाली का यह एक जबरदस्त हिस्सा है और किसी भी रूप में सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन में क्रोचे से यह छूट नहीं पाया। इसी पद्धति का सहारा लेकर तर्क विकसित करता है कि 'सहजानुभूति एक अमूर्त संकल्पना है'। लिहाजा यह भीतरी प्रक्रियाओं का हिस्सा है। अत: यह व्यवहारिक व्यापारों के ख़िलाफ अपना स्थान निर्मित करती है। इस आधार को और मजबूती प्रदान करने के लिए अपनी प्राचीन परम्परा की एक धारणा की भी सहायता लेता है कि ''कला संकल्पजन्य (Act of the Will) नहीं होती और सत्संकल्प नीतिपरक व्यक्ति का गुण है कलाकार का नहीं।''[18] अत्यधिक तर्क के चक्कर में यहाँ क्रोचे 'व्यक्ति' और कलाकार के बीच विभाजक रेखा खींचकर अतिरंजना का शिकार हो जाता है। लेकिन यदि 'चित्र का चित्र' के रूप में देखने के मेथड को अप्लाई किया जाय तो कला सभी व्यवहारिक स्थितियों से विछिन्न हो जाती है चाहे वह नैतिक स्थिति हो या अनैतिक स्थिति हो। ख़ैर क्रोचे की यह मान्यता अतिरंजित ही सही, एक संशय तो अवश्य उत्पन्न करती है। यह क्रोचे की एक नवीन सौन्दर्यशास्त्रीय तलाश है।

इसके बाद क्रोचे के विचार का केन्द्र है 'कला की प्रत्ययमूलकता'। परम्परया यह

स्वीकृत है कि कला प्रत्ययमूलक (conceptual) ज्ञान है। क्रोचे इसका भी निषेध करता है। कारण यह कि वह प्रत्ययमूलक ज्ञान को यथार्थवादी ज्ञान के रूप में स्वीकार करता है और यथार्थवादी ज्ञान का ध्येय ''असत्य के विरुद्ध सत्य की स्थापना करना होता है या उस (सत्य) के अन्तर्गत निविष्ट करके और उसी का एक उपाश्रित अंग मानकर असत्य का अपक्षय करना।''[19] और जब कला न तो नैतिक व्यापारों आदि की पक्षधरता नहीं करती तो वह 'सत्य' और 'असत्य' की पहचान का साधन कैसे बन सकती है। अत: क्रोचे निर्मित सहजानुभूति की संकल्पना प्रत्ययमूलक ज्ञान नहीं हो सकती। क्योंकि ''सूक्ष्म रूप से सहजानुभूति का अर्थ है सत्यासत्य का अभेद, चित्र का चित्र के रूप में ग्रहण, चित्र की नितांत आदर्शमयता (ideality)।''[20]

अत: यह कहना थोड़ा हास्यास्पद हो सकता है। लेकिन बावजूद इसके इसकी चर्चा करना स्वाभाविक है कि क्रोचे 'कला' को 'ब्रह्म' की भाँति देखता है। वह ब्रह्म जो कि आस्था का विषय है तर्क का नहीं। जैसे ही 'ब्रह्म' तर्क का विषय बनता है तो उसका 'ब्रह्मत्व' कम होने लगता है। इससे ब्रह्म की अवधारणा को चोट पहुँचती है। ठीक वैसे ही क्रोचे की नज़र में 'ज्यों ही उस आदर्शमयता से चिंतन और निर्धारण (judgement) का विकास होता है त्यों ही कला छिन्न-भिन्न होकर मर जाती है। उसका अवसान उस कलाकार में हो जाता है जो कि आलोचक बन बैठता है, उस मनीषी में हो जाता है जो कला का मुग्ध रसास्वादन छोड़कर जीवन का मतनशील दर्शक बन बैठता है।''[21] इस प्रकार का कलात्मक-रसास्वादन तो वीतरागीय स्थिति मे ही हो सकता है। जैसा कि भारतीय चिंतन परम्परा में इस-निष्पत्ति के सन्दर्भ में आचार्य भरतमुनि ने संकेत किया है। रस-निष्पन्नता भी कुछ इन्हीं परिस्थितियों के साथ होती है। रसास्वादन के लिए कम से कम इस क्षण विशेष में आलोचकीय वृत्ति का मरना आवश्यक है।

अत: तमाम प्रकार के उलझे विचारों के साथ भी क्रोचे का महत्त्व इस सन्दर्भ में अधिक है कि उन्होंने परम्परया किसी विचार को स्वीकार न करके उसमें नवीन चिंतन और तर्क को समाहित किया। 'अनुभूति' या 'सहजानुभूति' और कला को एक अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में देखने वाला पहला दार्शनिक चिंतक है। इसका कारण मैं इस प्रकार देखता हूँ कि ऐतिहासिक रूप से क्रोचे का समय मस्तिष्क की क्रिया पद्धति की खोज का समय है और क्रोचे इससे खूब प्रभावित दिखते हैं। 'जो है उसको वैसा ही देखा जाय' की पक्षधरता ने क्रोचे को वायवीय चिंतक के रूप में जरूरी प्रस्तुत करता है लेकिन बावजूद इसके इस आत्मवादी दार्शनिक ने तत्त्व-मीमांसा की प्रक्रिया में सौन्दर्यबोध और सौन्दर्यदृष्टि को केन्द्रीय महत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। शब्दों की गहरी पहचान होने के कारण वह सभी पारिभाषिक शब्दों के अर्थगत अंतर की पहचान करता है। कुछ आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि क्रोचे शब्दों के अलग अर्थ को व्याख्यायित

करता है जो आम प्रचलन वाले अर्थ से अलग होता है। जैसे क्रोचे के वहाँ एक शब्द है – 'सम्प्रतीति' उसको अंग्रेजी में (vision) कहता है। अर्थ की पकड़ कितनी गहरी है को वामनन शिवराम आप्टे की गवाही पर देखा जा सकता है – सम्प्रतीति – (सम् + प्रति + इ + क्तिन्) अर्थात् पूरा निश्चय। इसी अर्थ को रामचरित मानस में गोस्वामी जी ने इस प्रकार दिया –

**'जाने बिनु न होई परतीती**

**बिनु परतीति न होइहिं प्रीती।'**

अतः मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि उस मामले में क्रोचे एक जबरदस्त चिंतक था। अतएव कुल मिलाकर क्रोचे के चिंतन को वो स्थान मिलना चाहिए जिसको हमारे आलोचकीय विवेक ने नहीं दिया।

**सन्दर्भ**


1. क्रोचे, 'सौन्दर्य के मूल तत्त्व', ''कला क्या है'', पृ. 6.
2. वही, पृ. 5.
3. वही, पृ. 8.
4. वही, पृ. 1.
5. वही, पृ. 8.
6. वही, पृ. 8–9.
7. वही, पृ. 9.
8. वही, पृ. 9.
9. वही, पृ. 10.
10. वही, पृ. 10.
11. वही, पृ. 11.
12. वही, पृ. 11–12.
13. वही, पृ. 12.
14. वही, पृ. 9–10.
15. वही, पृ. 12.
16. वही, पृ. 17.
17. वही, पृ. 13–14.
18. वही, पृ. 14.
19. वही, पृ. 16–17.
20. वही, पृ. 17.
21. वही, पृ. 18.


✧ ✧ ✧


त्रिपाठी जी एक सुयोग्य लेखक एवं महाराजा अग्रसेन कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर के रूप में कार्यरत हैं।

# रामधारी सिंह दिनकर

डॉ. उषा कुमारी

**दरअसल ''रेणुका'' ने कवि को प्रतिष्ठित किया। रेणुका के रचना संसार में जहाँ दिनकर को ''आसाढ़ के रिमझिम'' में कृषक के गीत बुलाते हैं, माया का मोहर वन मोहता है, वहीं दूसरी ओर उन्हें ''ओस की करूणामयी कहानी'' के साथ जीवन की क्षण भंगुरता का कचोट भी रूलाता है और कवि फूट पड़ता है।**

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर ''विभा - पुत्र'' थे। उन्होंने हमें'' अक्षय लोक दान दिया है। जवानी के उत्साह में युवा दिनकर ने कहा था -

**''ज्योतिधर कवि मैं ज्वलित सौर मंडल का**
**मेरा शिखण्ड अरूणाभ किरीट अनल का**
**रथ में प्रकाश के अश्व जुटे हैं मेरे**
**किरणों के उज्जवल गीत गुंथे हैं मरे''।**

वस्तुत: दिनकर ''ज्वलित सौर मंडल के ज्योतिधर कवि' के रूप में हमारे सामने अपनी कृतियों में आते हैं। राष्ट्रीय चेतना उनकी - कविता का अमर स्वर रही है। गुलामी की जंजीर को तोड़ फेकने की कसक कवि अपने दिल में पालता है। शहीदों को कवि शत-शत नयन करता है :-

''सूख रही बोटी-बोटी, मिलती नहीं घास की रोटी
गढ़ते हैं इतिहास देश का, सहकर कठिन सुधा की मार
नमन उन्हें मेरा शत बार''।

''वारदोली-विजय'' से कविता के आंगन प्रवेश करने वाला कवि रेणुका में क्रांति को ललकारता हैं:-

''क्रान्ति-धात्रि कविते, जाग, उठ
आडम्बरा में आम लगा दे

पतन पाप पाखंड जले,

जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दें''।

दरअसल ''रेणुका'' ने कवि को प्रतिष्ठित किया। रेणुका के रचना संसार में जहाँ दिनकर को ''आसाढ़ के रिमझिम'' में कृषक के गीत बुलाते हैं, माया का मोहर वन मोहता है, वहीं दूसरी ओर उन्हें ''ओस की करूणामयी कहानी'' के साथ जीवन की क्षण भंगुरता का कचोट भी रूलाता है और कवि फूट पड़ता है :-

''हँसते हो, हों हंसी, अश्रुमय है जीवन का हास

यहाँ श्वाँस की गति में गाता झूम-झूम कर नाश

क्या है विश्व विनखरता का एक चिंतन राग

हँसों, हँसों जीवन की क्षण भंगुरता के इतिहास''।

कवि ''मेरे नगपति मेरे विशाल'' को याद करता है। स्वदेश प्रेम के भावुक प्रवाह में बहता है, पर साथ ही उसे मृत्यु की अनिवार्यता का भी बोध होता है, और कचोट में कवि कह उठता है :-

''लो वह देखों, वीर सिकन्दर सारी दुनिया छोड़,

दो गज जमीं ढूढ़ने को चल पड़ा कब्र की ओर।

सोमनाथ मंदिर का सोना ताक रहा है राह,

ओ महमूद! कब्र से उठकर पहनो जरा सनाह ''।

रेणुका के साथ-साथ कवि अन्य महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं- कुरूक्षेत्र, रश्मिरथी, परशुराम की प्रतीक्षा और उर्वशी । ''कुरूक्षेत्र'' दिनकर का विचार-प्रधान काव्य है, जिसमें युधिष्ठिर तथा भीष्म के माध्यम से महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए है। ''कलिंग विजय'' की रचना करते समय कवि को ऐसा प्रतीत हुआ कि मानरव जाति की समस्याओं की जड़ युद्ध की विकरालता में निहित है तथा इसी विचार-सूत्र का विस्तार कुरूक्षेत्र के फलक पर दृष्टिगत होता है।

''रश्मिरथी'' कर्ण की कथा है - सूर्यपुत्र कर्ण जिसकी नियति ''सुतपुत्र' ही रही । केन्द्र में कर्ण है और कवि ने कर्ण के चरित्र को सशक्त एवं उज्ज्वल प्रदर्शित किया है। कृष्ण के सब्ज बाग को ठुकराकर कर्ण अपने जीवन-दर्शन को उजागर करता है :-

''मै उनका आदर्श जिन्हें कुल का गौरव ताड़ेगा

नीच वंश जन्मा कहकर जिनकों जग धिक्कारेगा

जो समाज की विषम वहिन में चारों ओर जलेगें

पग-पग पर झेलते हुए बाधा निसीम चलेंगे

मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेगें

पूछेगा जग, किन्तु, पिता का नाम न बोल सकेगें।''।

रेणुका में कवि महसूस कतरा है कि देश में वीरों की ज्यादा जरूरत है, गांडीव की टंकार ज्यादा अपेक्षित है-

''रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ

जाने दे उनको स्वर्ग धीर

दे फिरा हमें गांडीव गदा

लौटा दे अर्जुन भीम वीर''।

''उर्वशी'' में पुरुरवा और उर्वशी के पौराणिक प्रसंग को उठाकर दिनकर ने कुछ शाश्वत प्रश्नों, आधुनिक संदर्भों में उठाया है। पुरुरवा का व्यक्तित्व वस्तुत: एक आधुनिक मानव का व्यक्तित्व है जब उसकी उर्वशी उससे छिन जाती है तब पुन: पराक्रम के अतिरोक में वह कहता है :-

''लाओं मेरा धनुष यहीं से वाण साध अम्बर में

अभी देवताओं के वन में आग लगा देता हूँ''।

किन्तु अपने लम्बे-चौड़े दावे के बाद भी ''अपने समय का सूर्य'' पुरुरवा कुछ नहीं कर पाता है। उर्वशी में प्रेम, कामाध्यात्म की विशद चर्चा हैं

''परशुराम की प्रतीक्षा'' दिनकर की अद्यतन काव्य कृति है और कवि चीन से

भारत की पराजय होने पर तिलमिला उठता है और परशुराम के अवतरित होने की

कल्पना करने लगता है। हमारी कलीवता को कवि इसमें ललकारता है।

इस तरह हम दिनकर की मुख्य काव्य कृतियों का परिचय पाते हैं और अब

दिनकर के रचना-संसार में उनका कौन-कौन दृष्टिकोण मिलता है, इसे देखें।

**राष्ट्रीय चेतना के कवि :-**

हमें दिनकर प्रमुखतया राष्ट्रीय चेतना के कवि दिखयी पड़ते हैं अपनी रचनाओं में चाहे वह रेणुका हो, या हुंकार या परशुराम की प्रतीक्षा, दिनकर के अन्तस में राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी हुई थी। सरकारी नौकर, दिनकर राष्ट्र प्रेम में सराबोर था और ''हुंकार'' कर रहा था :-

''सुनू क्या सिन्धु! मैं गर्जन तुम्हारा

स्वयं युग-धर्म की हुंकार हूँ मैं .....।

वस्तुत: दिनकर युग धर्म की पुकार थे। राष्ट्रचेतना का सूत्र दिनकर को छायावादी कवियों की साथ भी जोड़ता है जब प्रसाद ने ''चन्द्रगुप्त'' के युवकों को ललकारा।

''हिमाद्रि तुंग श्रृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला, स्वतंत्रता पुकारती।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञा सोच लो
प्रशस्त पुण्य पंथ है- बढ़े चलो, बढ़े चलों''।

भारत का ''अमर्त्य वीर पुत्र'' दिनकर भी सभी को शरीक होने का आह्वान करता है-

''समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध
जो तटस्थ है? समय लिखेगा, उनका भी अपराध''।

छोटे-छोटे नि:स्वार्थ शहीदों को भी नहीं भूला है :-

''जो अगणित लघु दीप हमारे
तुफानों में एक किनारे
जल-जल कर बुझ गए
किसी दिन मांग नहीं स्नेह मुंह खोल
कलम! आज उनकी जय बोल''।

**सामाजिक, राजनैतिक चेतना के कवि :-**

दिनकर की कविता में सामाजिक चेतना पूरी तरह व्याप्त हैं। रश्मिरथी में जाति-ग्रस्तता पर कवि का आक्रोश प्रखरतम रूप में हैं:-

''हाय कर्ण तू क्यों जन्मा था
जनमा तो क्यों वीर हुआ
कवच और कुंडल भूषित भी
तेरा अधम शरीर हुआ।
धँस जए वह देश अतल में
गुण की जहाँ नहीं पहचान
जाति-गोत्र के बल से ही
आदर पाते जहाँ सुजान''।

इस तरह दिनकर ने रश्मिरथी में भारत में व्याप्त जाति: व्यवस्था पर गहरी चोट की। महाभारत का कर्ण जाति पूछने पर मौन रह जाता है पर दिनकर का कर्ण द्रोणाचार्य को खरी-खोटी सुनाता है :-

''ऊपर सिर परी कनक क्षत्र, भीतर काले के काले

शरमाते नहीं जगत में, जाति पूछने वाले''।

ये वाक्य दिनकर की समासामयिक सामाजिक चेतना के द्योतक है। फिर दिनकर ने आम जनता की ताकत को आंका है :-

''दो राह समय के रथ का घर्धर नाद सुनो

सिंहासन खाली करो कि जनता आती है''।

कवि समय के रथ के ''घघर्र नाद'' के प्रति अचेत नहीं है और विषमता को दूर करने के लिए साम्यवाद की कसक रखे कह उठता है :-

''साम्य की वह रश्मि, स्निध उदार

कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान

कब सुकोमल ज्योति से अभिसिक्त

हो सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण'

**आस्था के कवि :-**

रेनेसाँ के कवियों की तरह दिनकर आस्था के कवि के रूप में अपनी कविताओं के माध्यम से दृष्टिगत होते हैं। ब्राउनिंग की तरह वे भविष्य के प्रति आस्थावान है :-

''वह प्रदीप जो दिख रहा है। झिलमिल दूर नहीं है,

थक कर बैठ गए क्या भाई, मंजिल दूर नहीं है''

कवि हमारे डूबते उत्साह को मृतसंजीवनी दिलाता है और इतना ही नहीं उसे विश्वास है कि मानव शक्ति अपरम्पार है :-

''खम ठोक लेता है जब नर, पर्वत के जाते पावं उखड़

मानव जब जोर लगाता है, पत्थर पानी बन जाता है''।

कवि इतना घनघोर आस्थावादी है कि '' हारे के हरिनाम'' में भी कवि की आस्था उजागर होती है :-

''मालिक, तुम्हारे इस दिए में, अभी तेल बाकी है,

अंधकार को फाड़ने को मैं अभी और जलूँगा''।

मनुष्य की शक्ति में दिनकर का अटूट विश्वास था :-

''मनु नहीं मनुपुत्र है यह सामने जिसकी

कल्पना की जीभ में भी धार होती है

वाण ही होते विचारों के नहीं केवल

स्वप्न के हाथ में भी तलवार होती है''।

**प्रेम के कवि :-**

राष्ट्रीय चेतना के कवि के अतिरिक्त दिनकर के काव्य का एक और पहलू प्रेम है जिसकी ओर हमारा ध्यान कम ही जाता है। दरअसल दिनकर शौर्य और ओज के पुंज है। अत: प्रेम के चन्द्रमा को नहीं दिखाना लाजिमी है। पर यह प्रेम-चन्द्रमा का अस्तित्व तो है जरूर और यदि हम विचारें तो कम महत्वपूर्ण नहीं है। उर्वशी कवि के यौन दर्शन को इन पंक्तियों में उजागर करती है:-

''रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी

क्योंकि बुद्धि सोचती और शोगित अनुभव करता है''।

दिनकर का यह ''यौन-धर्म'' डी.एच. लारेंस के यौन-धम्र से मिलता है लारेंस भी कहता है:-

"My great religion s belief in blood,

The flesh being wiser than the intellect"

प्रेम, श्रृंगार का सजीव वर्णन कवि इन ठोस बिम्बों के सहारे करता है :-

''वक्षस्थल पर इसी भांति मेरे कपाल रहने दो

कसे रहो बसइसी भांति, उत्पीड़क आलिंगन में

और जलाते रहे अधर पुट का कठारे चुम्बन से''।

इस तरह दिनकर प्रेम और श्रृंगार के भी कवि हैं:-

चिंतक-समीक्षक के रूप में:-

''संस्कृति के चार अध्याय'' में दिनकर एक प्रखर चिंतक के रूप में हमारे सामने आते हैं जिन्हें ''इतिहास बोध'' का सूक्ष्म ज्ञान है। ''शुद्ध कविता'' के पक्षधर दिनकर ने आलोचना के क्षेत्र को अछूता नहीं छोड़ा है।

दिनकरकर का काव्य - भाषा :-

दिनकर जी ने स्वयं कहा है कि वे पंत के सपने को मैथलिशरण गुप्त की सफाई के साथ लिखना चाहते थे यानी सपाट बयानी ध्येय था। पर विम्बात्मकता भी हावी रही है। बिम्बात्मकता और सपाट बयानी के समन्वय हैं दिनकर। रचना प्रक्रिया के दौर में धुंधले शब्दों को दिनकर ने आसिन के जल के भांति पारदर्शी स्पष्टता के साथ धरातल पर उतारा है। उनकी वयस्क कविताओं में झाग और फेन नहीं है। उनकी कविताएं उन्हीं के इन विचारों को भाषा के स्तर पर चरितार्थ करती

है :-

''वर्षा का मौसम गया, बाढ़ भी साथ गयी

जो बचना शेष वह स्वच्छ नीर का सोता है''

दिनकर की कविता में विषयान्तर का दोष लगाया जाता है। जैसे कुरूक्षेत्र में छठा सर्ग बिल्कुल ही कथानक से अलग-अलग दीखता है। खुद दिनकर ने भी कहा है:-

''जहाँ कोई भी ऐसी उड़ान आई है, जिसका संबंध द्वापर से नहीं बैठता, उसका सारा दायित्व मैंने अपने ऊपर ले लिया है। ऐसे प्रसंग अपनी प्रक्षिप्तता के कारण, पाठकों की पहचान में आ ही जायेगें। पूरा का पूरा छठा सर्ग ऐसा सेवक है''। इस तरह रश्मिरथी की चतुर्थ संग में दिनकर सुकरात से गाँधी तक की बात कह जाते हैं।

दिनकर का रचना-संसार द्वन्द्वों, दरारों से भरा है। परिस्थितियों एवं मन: स्थितियों से आनदोलित होकर दिनकर स्वयं एक बार एक बात करते हैं फिर दूसरी बार खुद वे ही काट देते हैं।

खैर, जो हो, दिनकर अपनी समग्रता में निस्संदेह एक ओज्सवी कवि हैं जिनमें भाषा का बहुरंगी विस्तार है। उनके मन में जब जैसा भाव उठता था, वैसा ही वे चित्रित करते थे :-

''रोक नहीं अपने अन्तर का

वेग किसी आशंका से,

मन में उठे भाव जो

उनको गीत बनाकर गाता चल''

वाकई दिनकर मन में उठे भावों को गीत बनाकर गाते चलते थे और नियति का यह क्रूर व्यंग्य ही है कि वे गाते-गाते ही एक दिन हमेशा के लिए चले गए। कवि जो ''स्वयं युग-धर्म की हुंकार था और सिन्धु की गर्जना का सुनना अस्वीकार करके दिया था, पर यात्रांत में सिंधु को ही दिनकर की गर्जना सुननी पड़ी और तिरूपति में कविता-पाठ के बाद यह ज्योतिधर कवि सदा-सदा के लिए सो गया, पर उनकी कविताएँ कभी नहीं बूझेंगी और हमेशा जाज्वल्यमान रहेगी। संस्कृति के चार अध्याय के यशस्वी रचयिता की दक्षिण में मृत्यु देश की भावानात्मक एकता का द्योतक है।

✧ ✧ ✧

---

डॉ. उषा कुमारी स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, ए.एन. कॉलेज, पटना
में एसोसियेट प्रोफेसर हैं।

# फगुआ गीत

सत्यप्रिय पाण्डेय

**यानी वसंत की मादकता में प्रियतमा का पति इतना मादक हो गया है कि वह उसके पास आता ही नहीं है, प्रकृति का रस बाहर ही बाहर लूटता रहता है और यहाँ तक बहक जाता है कि वेश्या के पास चला जाता है, घर की रानी उसे अच्छी नहीं लगती। हमारा लोकमानस ही सही अर्थों में ऋतुओं का आनंद उठाता रहा है।**

प्रकृति के प्रति रागात्मक लगाव मनुष्य का आदिम भाव बोध रहा है। प्रकृति का उल्लास जीवन में उतरकर जीवन को उल्लासित करता रहा है। यों तो प्रत्येक ऋतु अपने साथ प्रकृति में उल्लास ले आती है किन्तु वसंत ऋतु के प्रति मनुष्य का रागात्मक संवेदन सर्वाधिक प्रगाढ़ रहा है। वसंत की मादकता प्रकृति के कण-कण में व्याप्त होकर उसे सराबोर कर देती है। वसंत को ऋतुराज कहा गया है। वसंत में प्रकृति सौंदर्य से लद जाती है और बिहारी की नायिका की तरह भूषन भार सम्हारि हैं क्यों इहिं तन सुकुमार की स्थिति में पहुँच जाती है। अपने मधुर क्षणों में अपने उल्लास को वाणी देना मनुष्य का नैसर्गिक स्वाभाव रहा है, चाहे वह वैदिक ऋचाएं हों अथवा उपनिषद हो या आरण्यक के छंद हों, उसने सभी रूपों में अपने मधुर भावों को अभिव्यक्ति ही दी है। अनुभूति की गहराई एवं उसके आवेग ने गीतों का रूप लिया और वह भाव विभोर हो नाच उठा। इस नृत्य में उसके साथ मनुष्येतर जीव भी मंत्र मुग्ध हो नाच उठते हैं। मोर का नृत्य, पक्षियों का कलरव यह सब उसी उल्लास के प्रदर्शन ही तो हैं। चूँकि लोक जीवन प्रकृति की गोद में वास करता है इसलिए उसमें प्रकृति के प्रति सर्वाधिक उल्लास दिखाई पड़ता है। 'फगुआ' वसंत ऋतु में गाया जाने वाला ऐसा ही एक लोकराग है जिसमें फागुन के उल्लास को अभिव्यक्ति दी गयी है वसंत ऋतु में प्रेम परवान चढ़ता है और प्रेमी हृदय की मधुर पुकार इन रागों में अभिव्यक्ति पाती रही है।

चारों तरफ प्रकृति की मादकता छाई हुई है और स्त्रियाँ अपने पतियों के प्रति अपने राग को अभिव्यक्ति देने का सुन्दर अवसर गवाना नहीं चाहतीं, खासकर उस सामंती समाज के परिवेश वाले परिवार में जहाँ पत्नी को अपने पति के प्रति प्रेम का इजहार करने की आजादी नहीं थी। एक फगुआ गीत देखें- -

पिया फागुन फाग उड़ावें घरे नाहीं आवें,
घर क जेवनवा ओनके मनहीं न भावै,
ओ तो बाहेर भभूती  रमावैं घरे नाहीं आवैं।
घर क गेडुआ ओनके मनहीं न भावै,
ओ तो बाहेर गड़ही में घूँटे,
घरे नाहीं आवैं।
घर कय रनियवा ओनके मनहीं न भावै,
ओ तो बाहेर रंडी नचावैं,
घरे नाहीं आवैं।
ऋतु आई वसंत की होरी बलम सुधि छोरी।
गोहूँ औ चाउर ओनके मनहीं न भावै,
ओ तो बाहेर गोजई बोवावैं,
घरे नाहीं आवैं।
ऋतु आई वसंत की होरी .....।

यानी वसंत की मादकता में प्रियतमा का पति इतना मादक हो गया है कि वह उसके पास आता ही नहीं है, प्रकृति का रस बाहर ही बाहर लूटता रहता है और यहाँ तक बहक जाता है कि वेश्या के पास चला जाता है, घर की रानी उसे अच्छी नहीं लगती। हमारा लोकमानस ही सही अर्थों में ऋतुओं का आनंद उठाता रहा है। गांवों में वसंत पंचमी के दिन रेंड़ गाड़ दिया जाता था और उस दिन से लेकर होली तक फगुआ गाया जाता था। गेंहूँ की बुआई के साथ ही फगुआ गीत गाये जाने लगते थे। कहा भी जाता है गोहूँ परा कूंड़े में फगुआ बान्हा मूँड़ें में। इसका एक कारण यह भी है कि फसल की बुवाई के बाद लोक जीवन में अवकाश होता था और यह अवकाश वसंत की मादकता में घुलकर इन मधुर गीतों के रूप में अभिव्यक्ति पाता था। फगुआ को कई लोग इक्कठे होकर गाते थे और यह बाकायदा सुर और ताल के हिसाब से गाया जाता था। इसी सुर और ताल के आधार पर ही इसकी कई गायन शैलियाँ प्राप्त हैं। यह रूप उसके गायन के उतार चढ़ाव और उसके छंद और बन्ध को लेकर ही बनाया गया होगा। मसलन, डेढ़ ताल, अढ़ाई ताल, तेतल्ली, बेलवैया, धाम्मार, चौताल, कबीरा, चौता आदि इसके विविधा गायन रूप प्राप्त होते हैं। फगुआ प्रायः पुरुष ही गाते थे किन्तु कुछेक फगुआ रूप स्त्रिओं के भी प्राप्त होते हैं। औरतों का फगुआ अलग तरीके का होता था और पुरुषों का अलग। इनके गायन में भी पर्याप्त अंतर दिखाई पड़ता है। यदि फगुआ गीतों की

विषय वस्तु की बात करें तो इसमें पर्याप्त वैविधय दिखाई पड़ता है। जैसे लोकगीतों के और और रूप रामायण, महाभारत, तथा संयोग वियोग आदि के मार्मिक कथा प्रसंगों पर आधारित होते थे वैसे ही फगुआ भी महाभारत, रामायण सहित अनेक मार्मिक कथा प्रसंगों पर आधारित है किन्तु इनमें प्रणय भावना के प्रसंगों (संयोग वियोग) की झांकियां अधिक प्राप्त होती हैं। महाभारत के भीष्म प्रसंग पर आधारित एक फगुआ गीत देखें जिसमें भीष्म की वीरता बड़े ही मुखर रूप में अभिव्यक्त हुई है –यह डेढ़ ताल में निबध है–

राउर प्रण आज रहे न, गंगे सुत कहत पुकारी हे गिरिवरधारी।

सनमुख आज समर के सागर, रण सूरन मा बीर भटनागर, बड़े बड़े बलधारी,

द्रुपद विराट सात्यकी पारथ, सब कर बल करि देब अकारथ ,

बिचलित करि पांडव सैना, क्षण महँ दलि देब बिगारी, हो गिरिवरधारी।

कितौ चक्र गहि के नारायण, रथ से उतरि पयादे पायन, धौहौं सब सहत बने ना,

भीषम कइ चोट करारी, हो गिरिवरधारी।

जो इतना करि के न दिखाऊं, तो शांतनु कर सुत न कहाऊं, बनूँ नरक अधिकारी,

रामराज समरहु जग तारन, यह कहि लग्यो कठिन सर मारन,

देवन चित धीर धरै ना, कंपित भईं बसुधा सारी, हे गिरिवरधारी।

डेढ़ ताल में निबध एक फगुआ गीत देखें जिसमें एक विरहणी स्त्री अपनी वियोग व्यथा का वर्णन करती हुई कहती है – परदेसी बलम कि पतिया, निरखत दिन बीति गयो सो, बसंत लग्यो सो।

प्यारे पपिहरा तू बनके संदेसी, उड़जा पंछी जहाँ परदेसी, हमरी विपतिया कह्यो सो ,

करि करार दिलदार भुलाने, दिवस गिनत दिन रैन सिहाने, बिरही उनकी दूनौ अँखियाँ जल बरसत भरि भरि कोरे, बसंत लग्यो सो।

रसिक लोग सब होली मचौहैं, हमरे अकेलै बड़ा दुख होइ हैं, मारैं रंग बरोरी,

कछु दिन गए और ऋतु अइहैं, फुल कलियन मा भंवर मडरइहैं,

घर की सुधि भूलि गयो रसिया कइसे भयो जियरा कठोरे, बसंत लग्यो सो।

हमरे बिरह की सारी कहानी, पहिले कह्या तू अपनी जबानी, फिर यह पतिया दियो सो,

एक एक हरु कै अरथ बतायौ, तनी एक क्षण पंडित बनि जायौ,

टिकि जायौ वहीं पहिली रतिया, उनसे कह्यो सथवा चल्यों सो, बसंत लग्यो सो।

जइसे भयो कर में परवाना, तुरतै भयो परदेसी रवाना आइ के मिलेउ बड़े भोरे,

पिउ–पिउ कहिके निदिया जगाइ के रामराज से कहा समुझाइ के, मन में सुमिरत चलेउ राम रसिया, होली के दिन गरवा मिलेउ सो, बसन्त लग्यो सो।

वसंत ऋतु विरहिणियों के दुख को अधिक बढ़ा देता है। प्रकृति का उल्लास उसे दंश देता है,

उसकी पीड़ा असहनीय हो उठती है। इसी मर्म व्यथा का वर्णन जायसी पद्मावत में करते हैं। नागमती कहती है–

चौत बसंता होइ धामारी। मोहि लेखे संसार उजारी।

पंचम बिरह पंच सर मारै। रकत होइ सगरौ बन ढारै।

बूड़ उठे सब तरिवर पाता। भीज मंजीठ टेसू बन राता।

नागमती की यह पीड़ा तमाम विरही एवं विरहणियों की व्यथा कथा कह देती है, जो बेचारे प्रेम के मारे हैं। यही लोक की परंपरा है। इसी लोक की परंपरा को, लोक राग को जायसी ने उदघाटित किया है। गोपियों का कृष्ण वियोग प्रसंग साहित्य का अत्यंत कारुणिक प्रसंग रहा है। कृष्ण–वियोग पर आधारित कई फगुआ गीत मिलते हैं जिनमे कृष्ण को आधार बनाकर हमारे लोक रचनाकारों ने बड़े ही मार्मिक गीतों की रचनाएँ की हैं। एक गीत देखें–

घर–घर बिलखि रहीं वृजभामा, मधुबन छाइ रहे घनश्यामा, कइसे कटिहैं फगुनवा कै राति लिखत नहिं पाती।

चौत मास बन टेस फुले, कलियों में भँवर मँडराते हैं,

येस निरदैया निठुर श्याम, बैशाख बिते नहिं आते आते हैं,

लागे जेठवा खबरि ना मिलीं हो हरी कीं, कोइला होइ गईं सरिरिया सगरौ जरि कीं.....। इसी तरह से इसमें बारहों महीनों के वियोग का वर्णन किया गया है। यह एक बारहमासा गीत है। यह 'तेतल्ली'राग में निबद्ध है और विरह वेदना का गीत है। ध्यातब्य है कि हिंदी में बारहमासा काव्य रूढ़ि की परंपरा बड़ी ही संमृद्ध रही है। मध्य काल की इस कथानक रूढ़ि का निर्वाह जायसी ने भी किया और पद्मावत में इसकी बड़ी सुन्दर योजना प्रस्तुत की। एक बात का उल्लेख करना मैं यहाँ आवश्यक समझता हूँ वह यह कि उपर्युक्त फगुआ गीत की शुरुआत वसंत ऋतु के वर्णन से हुई है। वसंत ऋतुराज है, वह ऋतुओं में सबसे श्रेष्ठ एवं मादक ऋतु है, प्रधान ऋतु है और यह परंपरा हम संस्कृत साहित्यशास्त्र में भी देखते हैं जहाँ उसके कई श्रेष्ठ कवियों ने अपने काव्य में ऋतु वर्णन का प्रारंभ वसंत ऋतु से ही किया है। उदाहरण के लिए माघ का 'शिशुपाल वध' देखा जा सकता है। ठीक इसी परंपरा का निर्वाह करते हुए जायसी अपने पद्मावत में सबसे पहले वसंत ऋतु का वर्णन करते हुए लिखते हैं–

प्रथम बसंत नवल ऋतु आई। सुरितु चौत बैसाख सोहाई।

जायसी को यह परंपरा लोक से प्राप्त हुई है। उसी लोक परंपरा का निर्वाह करते हुए उन्होंने ऋतु वर्णन की योजना की है। माघ भी इसी परंपरा का अनुसरण करते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि हिन्दू मान्यता के अनुसार चौत्र से ही संवत् बदलता है और नए वर्ष की शुरुआत होती है। इस क्रम से भी वसंत ऋतु प्रारंभिक ही ठहरती है। पहले मास की पहली ऋतु का गौरव वसंत को ही प्राप्त है। कितनी सटीक है लोक रूढ़ि और उसकी परंपरा, यह इससे अंदाजा लगाया जा सकता है। यहाँ लोक और शास्त्र का भेद मिट जाता है, लोक रूढ़ि काव्य रूढ़ि बन जाती है। जैसे जैसे फागुन का महीना नजदीक आता है, विरहिणियों कि पीड़ा और अधिक बढ़ने लगती है। कितना

भी निष्ठुर पति होगा, वह फागुन में अपनी प्रिय के पास अवश्य आएगा, ऐसा प्रेयसी को विश्वास है। इस विश्वास को जब ठेस पहुँचती है तो प्रिया की आकुल-व्याकुल पुकार इन फगुआ गीतों में यों अभिव्यक्ति पाती है-

निरमोहिया श्याम नहिं आए, ऋतु फागुन के निकचाये, सुरति बिसराए।

जब से गए मोरी सुधि नाहीं लीन्हा, कौनो सवति उनका वश कीन्हा, सईयां पे जदुआ चलाये।।

भारत में जब औद्योगिकीकरण कि शुरुआत हुई, तब बड़े पैमाने पर लोग अपने खेत खलिहानों को छोड़कर महानगरों की तरु बढ़े। यह वही दौर था कलकत्ते में कारखाने लग रहे थे। जो ग्रामीण युवक अपनी नवविवाहिताओं को छोड़कर मशीन को अपनी संगिनी बनाने इन महानगरों में आये थे उनकी स्त्रियाँ उनकी बाट जोह रही थीं। महानगर ने, मशीनीकरण ने, सम्बन्धों की प्रगाढ़ता को अनगिनत आंसुओं में परिवर्तित कर दिया। उन नवपरिणीताओं ने न जाने कितने फागुन,चौत रो-रो कर, विलख-विलख कर झेले होंगे। उनका कुछ अंदाजा तो इन फगुआ गीतों से जरूर लगाया जा सकता है। उनके प्राणधार क्यों नहीं लौटे, क्या करण है? किसी अन्य स्त्री में तो नहीं फँस गए? कलकत्ते के बारे में यह प्रसिद्ध था कि वहाँ जाकर लोग दूसरी स्त्री में अनुरक्त हो जाते थे, कदाचित लम्बा वियोग भी इसका कारण रहा हो। गोपियाँ कृष्ण को उलाहना देते हुए कहती हैं कि वे कुब्जा के चक्कर में पड़ गए, हमें क्यों याद करेंगे? उपर्युक्त फगुआ गीत में यही व्यंजना ध्वनित हुई है। बंगाल में जाकर पति के दूसरी स्त्री में अनुरक्त हो जाने कि सम्भावना व्यक्त करता हुआ यह फगुआ गीत देखें-

बालम बंगलिनिया लोभाने, मोका बरहौ महिनवा रोवाए, गजब दुख नाए।

बीते चौत बैसाख जो लागे, हमरौ बलमुआ न जानी कहाँ भागे, जेठवा मा जियरा जलाए।।

और इसी तरह पूरे बारह महीने तक वह अपने पति का इंतजार करती है, किन्तु वह निर्मोही ऐसा गया कि लौटा ही नहीं। उस दुखियारी के लिए फागुन-जेठ सब बराबर है। वसंत का आनंद वही स्त्री पाती है जिसका पति उसके पास हो, वही फूलों का आनंद पाती है, वही चांचरि का आनंद लेती है क्योंकि-

जेहि घर कंता ऋतु भली आउ बसंता नित्तु।

सुख बहरावहि देवहरै दुक्ख न जानहिं कित्तु।।

सत्यप्रिय पाण्डेय, समकालीन पत्र–पत्रिकाओं में विपुल लेखन, लोक साहित्य विमर्श में अभिरूचि। सम्प्रति हिन्दी विभाग, श्याम लाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर हैं।

# हिन्दी ग़ज़ल की परम्परा और प्रयोग

डॉ. शहाबुद्दीन

**भारतेन्दु युग ग़ज़ल का शैशव काल है तो सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, जयशंकर प्रसाद, त्रिलोचन, शमशेर बहादुर सिंह और नीरज आदि कवियों ने ग़ज़ल को किशोर वय में पहुंचाया। पर कोई भी ग़ज़ल को अलग पहचान न दिला सका उर्दू ग़ज़ल के सामने हिन्दी ग़ज़ल फीकी ही रही। हाँ त्रिलोचन की 'बिस्तरा है, न चारपाई है' ग़ज़ल उर्दू रिवायत से अलग एक नई भूमि पर लिखी गई। इसने ग़ज़ल की ओर साहित्यकारों का ध्यानाकर्षित किया।**

ग़ज़ल[1] उर्दू साहित्य की प्रसिद्ध और लोकप्रिय विधा है। यह अरबी-फ़ारसी भाषाओं से उर्दू में और उर्दू से हिन्दी में आई। उर्दू में यह लंबे समय तक प्रेमपूर्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम रही। उर्दू में ग़ज़ल का अर्थ ही है - नारियों से प्रेम की बातें करना[2] या प्रेमिका से वार्तालाप।[3] अत: उर्दू में लंबे समय तक ग़ज़ल वही समझी जाती रही, जिसमें इश्क़-मुहब्बत की बातें सच्चाई और असर के साथ आई हो। ग़ज़लकारों के अंदाज़-ए-बयां ने इसे लोकप्रिय विधा बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ग़ालिब ने कहा भी, 'कहते हैं कि ग़ालिब का अंदाज़-ए-बयां कुछ और'। उर्दू ग़ज़ल केवल सांसारिक प्रेम तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि उसमें आध्यात्मिक प्रेम की भी अभिव्यक्ति हुई। कालांतर में देश प्रेम और मानवता की भावनाओं को भी उर्दू ग़ज़लों में बखूबी उभारा गया। यानि इश्क़ मज़ाजी से इश्क़ हक़ीक़ी का सफ़र ग़ज़ल ने उर्दू में ही पूरा कर लिया। डॉ० अमरनाथ लिखते हैं- ''उर्दू को यह लोकप्रिय विधा फ़ारसी से प्राप्त हुई। लेकिन इसे सुगंध मिली हिन्दुस्तानी मिट्टी से।''[4]

धीरे-धीरे यह सुगंध अन्य प्रांतीय भाषाओं में भी फैली और हिन्दी भी इसके असर में आ गई प्रारम्भिक दौर में हिन्दी की ग़ज़लों पर उर्दू रिवायत का ही प्रभाव रहा। भारतेन्दु ने 'रसा' नाम से जो ग़ज़लें लिखीं उनमें प्रेम की भावनाओं को ही चित्रित किया

गया। कहते हैं, यह उनकी शायरी पर रीतिकालीन स्वछंद्तावादी रोमानी वातावरण और उर्दू ग़ज़ल की रिवायत का प्रभाव था। रामनरेश त्रिपाठी द्वारा संपादित 'कविता कौमुदी' में उनकी ग़ज़लें भी प्रकाशित हुई। उन्हीं ग़ज़लों में से ये शेर दृष्टव्य हैं- 'दिल मेरा ले गये दगा करके/बेवफ़ा हो गया वफ़ा करके'। या 'खुद बखुद आज वो बुत आया/मैं भी दौड़ा खुदा-खुदा करके'।[5]

भारतेन्दु युग ग़ज़ल का शैशव काल है तो सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, जयशंकर प्रसाद, त्रिलोचन, शमशेर बहादुर सिंह और नीरज आदि कवियों ने ग़ज़ल को किशोर वय में पहुंचाया। पर कोई भी ग़ज़ल को अलग पहचान न दिला सका उर्दू ग़ज़ल के सामने हिन्दी ग़ज़ल फीकी ही रही। हाँ त्रिलोचन की 'बिस्तरा है, न चारपाई है' ग़ज़ल उर्दू रिवायत से अलग एक नई भूमि पर लिखी गई। इसने ग़ज़ल की ओर साहित्यकारों का ध्यानाकर्षित किया। हालांकि उनकी ग़ज़ल में उनके निजी जीवन का संघर्ष है परंतु ग़ज़ल को पढ़ते हुए वह आम आदमी का सच मालूम होता है। इसकी सहजता और सरल भाषा इसकी शक्ति है। त्रिलोचन के समकालीन शमशेर ने वैसे तो दर्जनों ग़ज़लें लिखी हैं पर 'गजानन मुक्तिबोध' अदुत ग़ज़ल है। उनकी भी लगभग सभी ग़ज़लें प्रेमपूर्ण भावनाओं को अभिव्यक्त करती हैं। परंतु उनकी ग़ज़लों में जुदाई का दर्द ही अधिक उभरा है। कह सकते हैं कि हिन्दी ग़ज़ल अपने तरुण काल में उर्दू रिवायत का ही अनुसरण करती रही। हालांकि निराला की ग़ज़ल की रंगत जुदा थी। इस प्रसंग में उनका यह शेर उल्लेखनीय है-

**भेद कुल खुल जाए वह सूरत हमारे दिल में है**
**देश को मिल जाए जो पूंजी तुम्हारी मिल में है**[6]

बहरहाल, दुष्यंत कुमार ने हिन्दी में ग़ज़ल को स्थापित करने में महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय भूमिका निभाई। उन्होंने, इसे वस्तु और रूप दोनों स्तरों पर नया कलेवर प्रदान किया। हालांकि रूप के स्तर पर उन्होंने भाषा को ही महत्व दिया। वे ग़ज़ल की भाषा को आम आदमी की भाषा के निकट लाए। भाषा को लेकर उनका दृष्टिकोण शुद्धतावादी नहीं था। उन्हें ने उर्दू के अल्फ़ाज़ों से परहेज था, न हिन्दी के शब्दों से अलगाव। शमशेर की तरह उनकी कोशिश उर्दू-हिन्दी को निकट लाने और भाषा का दोआब बनाने की रही। इसमें उन्हें सफलता भी मिली। उनकी प्रतिभा और रचनात्मक ऊर्जा का आधार उनकी ये ग़ज़लें ही बनीं। दरअसल, उन्होंने ग़ज़ल को एक नई भूमि पर प्रतिष्ठित किया और उसकी ताकत से हिन्दी पाठकों को परिचय कराया। डॉ. दयाशंकर आपकी ग़ज़लों के विषय में लिखते हैं, ''ग़ज़ल की परम्परागत छवि हुश्न और इश्क़ से जुड़ी थी, लेकिन दुष्यंत कुमार ने हुश्न और इश्क़ को ज्यादा महत्व न देते हुए ग़ज़ल को राष्ट्रीय, सामाजिक संदर्भों और आम आदमी की मुश्किलों और तकलीफ़ों से जोड़ा।''[7]

दुष्यंत की ग़ज़लों में अंतर्वस्तु के स्तर पर अंतर्विरोध साफ़ नज़र आते हैं। हालाँकि उनकी कुछ ग़ज़लों में यथास्थिति के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है। इस प्रसंग में उनकी 'कहाँ तो तय था', 'ये रोशनी है हक़ीक़त में छल लोगों' और 'हो गई है पीर पर्वत सी' ग़ज़ल उल्लेखनीय हैं। उल्लेखनीय इस अर्थ में भी कि ये अपने समय का सच बयान करती हैं और लोंगो की भावनाओं को संजीदगी से अभिव्यक्त करती हैं। वामपंथी रचनाकारों के विद्रोही स्वर को कमतर करती ये

ग़ज़लें लोकतान्त्रिक हस्तक्षेप की वकालत करती प्रतीत होती हैं। इसीलिए कह सकते हैं कि ग़ज़ल को हिन्दी में लोकप्रिय विधा बनाने के साथ दुष्यंत ने इसे लोकतान्त्रिक भावभूमि से भी जोड़ा। उन्होंने अंदाज़-ए-बयां पर ध्यान न देकर वैयक्तिक विचारों की अभिव्यक्ति को विशेष महत्व दिया। वे लिखते भी हैं 'सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं/मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए।' यानि परिवर्तन होना चाहिए। इसी तरह 'मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही/हो कहीं भी आग, लेकिन आग जलनी चाहिए। यानि चेतना निरंतर जागृत रहनी चाहिए। प्रश्न यह है कि क्या इतने ही से आम आदमी की स्थिति में कोई गुणात्मक परिवर्तन आ सकता था? यह प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण है कि आजादी के बाद से ही हम परिवर्तन देखते आ रहे हैं। पर परिवर्तन से जनता की हालत में कोई सुधार दिखाई नहीं देता। यानी समस्या परिवर्तन में नहीं कहीं और है। दरअसल, समस्या एक तो 'चाहिए' में है और दूसरे परिवर्तन को लेकर उनके दृष्टिकोण में। यहाँ मुझे जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित कुछ पंक्तियाँ याद आ रही है। वे लिखते हैं- ''ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है/इच्छा पूरी क्यों हो मन की/एक-दूसरी से न मिल सकें/यही विडम्बना है जीवन की''। दुष्यंत के साथ भी यही स्थिति है। वे परिवर्तन की इच्छा तो रखते हैं, परंतु उनका 'ज्ञान' उन्हें क्रिया करने से रोकता है। वे परिवर्तन के लिए प्रतिबद्ध नहीं हैं। इसीलिए उनकी अधिकांश ग़ज़लें किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचती और न ही पाठक को पहुँचाती हैं। वे सन्नाटे को तोड़ती प्रतिरोध की रोमानी शक्ल तो अख़्तियार करती हैं, परंतु सत्ता के समक्ष चुनौती नहीं बनतीं। ख़ास रोमानी आग्रह से भरपूर इन ग़ज़लों में परिवेशगत सच्चाई और विसंगतियाँ तो पैबंद हुई हैं, परंतु ये जनता की आकांक्षा की पूर्ति नहीं करती। इसलिए डॉ. अमरनाथ के इस कथन से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि ''हिन्दी ग़ज़ल को प्रगतिवाद का स्वर देने वालों में दुष्यंत कुमार का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है''[8] दरअसल, ध्यान से देखें तो परिवर्तन की छटपटाहट और बेचैनी से भरपूर उनकी कुछ ग़ज़लें व्यवस्था के समक्ष मौन ही लगती हैं। ये न तो व्यवस्था में आई जड़ता को तोड़ती हैं और न यथास्थिति में दरार ही पैदा करती हैं। मोहभंग और विरोध के वातावरण में भी कवि का अतिशय आशावादी स्वर हैरान करने वाला है। कहीं इसके पीछे 'परिमलवादी' आग्रह तो नहीं काम कर रहा था? खैर, जो भी हो मैं अपनी बात दुष्यंत कुमार की कुछ प्रसिद्ध ग़ज़लों से उदाहरण देकर पुष्ट करना चाहता हूँ। उनकी 'ये सारा जिस्म झुककर' ग़ज़ल का अंतिम शेर देखिए-

**चलों, अब यादगारों की अँधेरी कोठरी खोलें,**

**कम-अज़-कम एक वो चेहरा तो पहचाना हुआ होगा।**[9]

यानि वर्तमान की समस्या से स्मृति में पलायन। इसी तरह 'इस नदी की धार से' ग़ज़ल का अंतिम शेर देखिए जिसमें वे आज़ादी को उपलब्धि बताते हैं-

**दुख नहीं कोई कि अब उपलब्धियों के नाम पर ,**

**और कुछ हो या न हो, आकाश-सी छाती तो है।**[10]

पर इस आकाश-सी छाती का लुत्फ कौन उठा रहा है क्या यह वे नहीं जानते थे? जबकि अंतिम समय में नेहरू ने भी स्वीकारा था कि अमीर ज्यादा अमीर हो रहे हैं और गरीब ज्यादा गरीब।

इस प्रसंग में और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। बहरहाल दुष्यंत के बाद हिन्दी ग़ज़ल को शलभ श्रीराम, अदम गोंडवी और बल्ली सिंह चीमा आदि वामपंथी रचनाकारों ने वामपंथ की भूमि से जोड़ा। यहाँ ग़ज़ल में भावनात्मक रुझान से ज्यादा एक खास प्रकार की आक्रामकता दिखता है। मोहभंग की पीड़ा और लोकतन्त्र की आलोचना के संदर्भ में अदम गोंडवी की ग़ज़ल देखिए–

**काजू भुने प्लेट में, विस्की गिलास में/उतरा है राम राज्य विधायक निवास में**
**पक्के समाजवादी हैं, तस्कर हों या डकैत/इतना असर है खादी के उजले लिबास में**
**आज़ादी का वो जश्न मनाये तो किस तरह/जो आ गए फुटपाथ पर घर की तलाश में**
**पैसे से आप चाहें तो सरकार गिरा दें/संसद बदल गयी है यहाँ की नखास में**
**जनता के पास एक ही चारा है बगावत /यह बात कह रहा हूँ मैं होशो-हवास में**[11]

ग़ज़ल देखकर स्पष्ट है कि अदम दुष्यंत से किस तरह अलग हैं। दरअसल अदम गोंडवी की ग़ज़ल में व्यवस्था की आलोचना के साथ-साथ व्यंग्य की तीखी धार भी मौजूद है। उनके व्यंग्य की खूबी यह भी है कि यह बहुआयामी है। इसमें राजनीतिक यथार्थ अपनी विद्रूपता और विसंगति के साथ तो व्यक्त हुआ ही, साथ ही जनता की विडम्बनापूर्ण स्थिति भी संजीदगी से उभरी है। इसके अतिरिक्त यह ग़ज़ल जनता को अपनी विडंबनापूर्ण स्थिति से मुक्ति का रास्ता भी सुझाती है। इस ग़ज़ल की एक अन्य खूबी यह भी है कि इसमें लच्छेदार भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है और न ही किसी तरह की अस्पष्टता है। इसी तरह का तीखा स्वर उनकी अन्य ग़ज़लों में भी उभरा है। निम्न ग़ज़ल को देखिए–

**जो डलहौजी न कर पाया वो ये हुक्काम कर देंगे**
**कमीशन दो तो हिंदुस्तान को नीलाम कर देंगे**
**ये वन्दे-मातरम का गीत गाते हैं सुबह उठकर**
**मगर बाजार में चीजों का दुगना दाम कर देंगे**
**सदन में घूस देकर बच गई कुर्सी तो देखोगे**
**वो अगली योजना में घूसखोरी आम कर देंगे।**[12]

है न तिलमिलाने वाला व्यंग्य और चोट करती आक्रामकता। इसी तरह दुष्यंत कुमार जहाँ लिखते हैं 'कहाँ तो तय था चिरागाँ हरेक घर के लिए कहाँ चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए। वहीं अदम गोंडवी ने लिखा 'जो उलझ कर रह गयी है फाइलों की जाल में/गाँव तक वह रोशनी आएगी कितने साल में'। यानी दुष्यंत स्वतंत्रतापूर्व के वादे को याद दिलाते हुए 'शहर' के अँधेरे की ओर ध्यान दिलाते हैं, वहीं अदम सीधे प्रश्न पूछत हुए 'गाँव' तक रोशनी न पहुँचने के कारण को भी स्पष्ट करते हैं। दरअसल अदम यथार्थवाद की रोशनी में ग़ज़ल लिखते हैं इसीलिए ज्यादा गहराई से यथार्थ को पकड़ते हैं। इस अर्थ में उनकी ग़ज़लें दुष्यंत की ग़ज़लों से ज्यादा सशक्त हैं। इसका कारण जन-प्रतिबद्धता से भी जुड़ा है। उनके सामने स्पष्ट हैं कि जनता के हितैषी कौन नहीं हैं? इस प्रसंग में अदम की ग़ज़ल से एक और उदाहरण देखिए–

**इधर एक दिन की आमदनी का औसत है चवन्नी का**

**उधर लाखों में गाँधी जी के चेलों की कमाई है।**[13]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि अदम एक ओर समाजवादियों की आलोचना अपनी ग़ज़ल में करते हैं तो दूसरी ओर तथाकथित गाँधीवादियों की पोल भी खोलते हैं। वे सिर्फ राजनीतिक भ्रष्टाचार की बात ही अपनी ग़ज़लों में नहीं उभारते, बल्कि संवेदनशील मुद्दों पर सत्ताधारी वर्ग को राजनीति करने से सचेत भी करते हैं। वे तर्कपूर्ण और विश्वसनीय ढंग से राजनीतिक छद्म की आलोचना करते हैं। वे राजनीति से धर्म और जाति को दूर रखने के पक्षधर हैं। ऐसा इसलिए है कि वे जानते हैं कि इससे जहाँ समाज का ताना-बाना प्रभावित हो सकता है, वहीं जनता के वास्तविक मुद्दे भी हाशिये पर चले जाते हैं। वे यह भी जानते हैं कि इतिहास का सच क्या है? इसीलिए प्रश्न पूछते हैं कि इतिहास के लिए वर्तमान पीढ़ी सजा क्यों भुगते? उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा-

**हिन्दु या मुस्लिम के अहसास को मत छेड़िये**

**अपनी कुर्सी के लिए जज़्बात को मत छेड़िये**

**हममें कोई हूण, कोई शक, कोई मंगोल है**

**दफ्न है जो बात, अब उस बात को मत छेड़िये**

**गर गलतियाँ बाबर की थी जुम्मन का घर फिर क्यों जले**

**ऐसे नाजुक वक्त में हालात को मत छेड़िये**

**हैं कहाँ हिटलर, हलाकू, जार या चंगेज़ खाँ**

**मिट गये सब, कौम की औकात को मत छेड़िये**

**छेड़िये एक जंग, मिल-जुल कर गरीबी के खिलाफ**

**दोस्त, मेरे मजहबी नग्मात को मत छेड़ियें।**[14]

इस तरह हम देखते हैं कि अदम गोंडवी अपनी ग़ज़लों में केवल राजनीति के कुत्सित चेहरे को ही बेनकाब नहीं करते, बल्कि उसका सही विकल्प भी प्रस्तुत करते हैं। इसी में उनकी ग़ज़ल की सफलता और शक्ति निहित है। बहरहाल प्रगतिशील ग़ज़ल परम्परा में कोई ग़ज़लगो नार्वी भी हुए हैं। कोई इस अर्थ में कि इस लेख को लिखते हुए ही उनकी ग़ज़लें मेरे देखने में आई। उन्होंने अपनी ग़ज़ल के माध्यम से सामाजिक रूढ़ियों और वर्ग विभेद की स्पष्ट शब्दों में कटु आलोचना की है। इस प्रसंग में उनकी यह ग़ज़ल देखिए।

**आपका तावीज़, गंडे आपके/आपके सब तीर्थ, पंडे आपके**

**आपकी जेबों में गर्मी जिस कदर/उस कदर हैं हाथ ठंडे आपके**

**जिस तरह भी थापिए इस देश पर/आपका गोबर है कंडे आपके**

**रफ्तः रफ्तः पीठ पुख्ता हो गयी/हैं बड़े मजबूत डंडे आपके**

**ये समर्थन है कि अवसरवादिता/सबके हाथ में हैं झंडे आपके** [15]

स्पष्ट है नार्वी की ग़ज़ल का तंज़ बहुमुखी है। इसे उन्होंने लोकधर्मी टच देने की सफल कोशिश की है। उन्होंने भारतीय समाज और राजनीति के यथार्थ को इस ग़ज़ल में उभारा है। उनकी कुछ ग़ज़लों के आधार पर कह सकते हैं कि उन्होंने अपनी ग़ज़लों में अंतर्वस्तु के स्तर पर ही नहीं, शिल्पगत स्तर पर भी सफल प्रयोग किए हैं। उनकी ग़ज़ल के रदीफ़-काफिये दिलचस्प हैं। इस अर्थ में उनकी ग़ज़ल में कुछ नयापन है। इस प्रसंग में उनकी निम्न ग़ज़ल दृष्टव्य है-

**छा गयी उफ, किस कदर बेचारगी, बीड़ी जला**
**याद अपनी असलियत फिर आ गयी? बीड़ी जला**
**सर्दियों की बात होती सिर्फ, तो क्या बात थी**
**जिन्दगी ही बन गई हैं जनवरी, बीड़ी जला**
**किसने अपने नाम तेरी चाय के कप लिख लिये**
**इनमें जाने कौन है वो आदमी, बीड़ी जला**
**किस तरह उसकी रगों में खो गया तेरा लहू**
**तू नहीं समझेगा ये जादूगरी, बीड़ी जला**
**सरफरोशी के इरादे कल भी यूँही थे जवां**
**कल भी बस बीड़ी जली थी, आज भी बीड़ी जला**
**ख़त्म जब सब हो गया तो ये भी क्यों बाकी रहे**
**कब से बंडल में पड़ी है आखिरी, बीड़ी जला**[16]

इस ग़ज़ल में वैचारिक अंतर्विरोध सा उभरता प्रतीत होता है परंतु ग़ज़लकार की चिंता जायज लगती है।

प्रगतिशील कवि बल्ली सिंह चीमा ने भी ग़ज़ल विधा में कलम चलाई है और वे आज भी ग़ज़ल-सृजन से जुड़े हैं। उन्होंने प्रगतिशील मूल्यों के आधार पर ग़ज़लें रचीं हैं। उनकी खूबी यह है कि उन्होंने अपनी ग़ज़लों में लोक-जीवन से जुड़ी समस्याओं को संजीदगी से उभरने की ओर खासा ध्यान दिया है। वे ग्रामीण जनता खासकर किसानों-मजदूरों के दुख-दर्द को संजीदगी से उभारते हैं। आज़ादी के पहले से ही किसानों की दशा खराब रही है। विडम्बना यह रही कि आज़ादी के बाद भी उनकी समस्याओं की ओर नेतृत्व-वर्ग ने गंभीरतापूर्वक ध्यान नहीं दिया। तकनीक, उर्वरक और उन्नत बीजों के प्रसार-प्रचार पर तो खास ध्यान दिया गया परंतु सिंचाई के लिए उन्हें मौसम पर ही छोड़ दिया गया। एक तरफ कर्ज का बोझ दूसरी तरफ मौसम की मार। इससे दिन-प्रतिदिन उसकी दशा विकट होती गई। नतीजा यह रहा कि किसान दिनोंदिन खस्ताहाल होता गया। अपनी मजबूरियों से विवश होकर ही वह आत्महत्या करने को मजबूर हुआ। इस पर भी विडम्बना यह है कि इतने विकट समय में भी उस पर राजनीति हो रही है। अफसोस, मीडिया

उनकी हालत से ब्रेकिंग न्यूज तलाशता है तो बाजार मुनाफ़ा! अपनी ग़ज़लों में बल्ली सिंह चीमा ने किसानों के दुख-दर्द और उन्हें आत्महत्या को विवश करने वाले कारणों की ओर संकेत किया है। ग़ज़लकार उसके अदम्य साहस और जुझारू तेवर को भी ध्यान में रखता है। वह लिखता है-

**कभी धान को कभी गेहूँ को तेरी मण्डियों ने दग़ा दिया।**
**मेरी खेतियों से तुझे बैर है, तेरी नीतियों ने बता दिया।**
**मैं किसान हूँ मेरा हाल क्या, मैं तो आसमां की दया पे हूँ,**
**कभी मौसम ने हँसा दिया, कभी मौसम ने रुला दिया।**
**ये कहानियाँ, ये लफ़्फ़ाजियाँ, तेरे मुंह से मुझको जची नहीं,**
**मेरे गाँव में ये रिवाज़ है कहा जो भी करेक दिखा दिया।**
**मेरी जिन्दगी तुझे क्या कहुँ, तू ही धूप है, तू ही छांव है,**
**किसी शाम तूने रुला दिया, किसी शाम तूने हँसा दिया।**
**मैं गिरा तो गिर के उठा भी हूँ यही फ़क्र है कि झुका नहीं**
**वो मशाल भी क्या मशाल है, जिसे आंधियों ने बुझा दिया।**[17]

समकालीन ग़ज़ल में सुलतान अहमद ने भी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराई है। वे प्रगतिशील विचारधारा में विश्वास रखते हैं। यह उनकी ग़ज़लों की संरचना में गुंफित है। उनकी ग़ज़लों पर कहीं अमीर खुसरो का प्रभाव नजर आता है, तो कहीं वे कबीर को याद करते हैं। उनकी ग़ज़लों में मिथकीय और पौराणिक साहित्य का प्रभाव भी मौजूद है। फिर भी उनकी प्रारम्भिक ग़ज़लें परिपक्व नहीं कहीं जा सकती। उनमें अंतर्वस्तु के स्तर पर अस्पष्टता हैं इसी कारण उनकी ये ग़ज़लें असरदार साबित नहीं होती। परंतु समय के साथ-साथ आपकी ग़ज़लें बेहतर होती गई हैं। दरअसल अनुभव की आँच में तपने और वैचारिक स्थिति स्पष्ट होने से उनकी ग़ज़लें निखरती गई हैं। साधारणत: उनकी ग़ज़लों में आक्रामकता नहीं दिखाई देती है। परंतु उनकी सादगी असरदार है। वे सहजता से अपने समय के अंतर्विरोधों को पकड़ते हैं और व्यवस्था के समक्ष गंभीर प्रश्न खड़े करते हैं। परंतु व्यवस्था में उचित बदलाव न देखकर वे निराश होते हैं और उनकी ग़ज़लें व्यंग्यात्मक। कालांतर में यही व्यंग्यात्मकता उनकी ग़ज़ल का स्वाभाव बन गई हैं इससे उनकी ग़ज़ल की शक्ति में वृद्धि हुई। एक ग़ज़ल में वे खिलते हैं।

**ज़माने आ गये हैं क्या यहाँ उनकी सखावत के,**
**हुए हैं पेशवा अब साँप चूजों की हिफ़ाज़त के।**
**उड़ी काँधों से बाँहें और सीनों से हैं दिल गायब,**
**फले हैं बीज किस-किस शक्ल में उनकी इनायत के।**
**भले गर्दन उड़ा दी पर कफ़न देना न भूले वो,**
**निकालें लफ़्ज़ कैसे मुँह से अब उनकी शिकायत के।**

**पहाड़ों को उठाने से निकल आये जिन्हें कूबड़,**
**दिखाते हैं मुनाफ़ वे पहाड़ों की इबादत के।**[18]

सुलतान अहमद की ग़ज़लों में आम आदमी की पीड़ा, तकलीफ और तख़ैयुल भी है और सत्ताओं का जन विरोधी चरित्र भी। उनकी ग़ज़लें व्यापक जीवन संदर्भों से जुड़ी है। इसमें उनके वैयक्तिक अनुभव भी गुथे हैं। नब्बे के दशक के बाद भारतीय राजनीति में जो साम्प्रदायिक प्रभाव पड़ा उसे उन्होंने अपनी कविताओं और ग़ज़लों में शिद्दत से उभरा। वे सत्ता की क्रूरता के केवल द्रष्टा ही नहीं रहे, बल्कि उन्होंने स्वयं उस क्रूरता को सहा। उनकी कविताओं और ग़ज़लों पर जो आलोचना- पुस्तक प्रकाशित हुई हैं उसमें मैंने पढ़ा है कि 2002 ई. में गुजरात में जो दंगे हुए उसमें उनका घर भी जला दिया गया था। असामाजिक तत्वों द्वारा समाज में जो आग लगाई गई उसकी आँच को उन्होंने खुद भी महसूस किया। इसलिए कह सकते हैं कि उन्होंने दंगों की पृष्ठभूमि पर जो ग़ज़लें लिखीं उनमें उनकी आत्मानुभूति भी शामिल हैं इस दौरान उनकी जो ग़ज़लें प्रकाशित हुई वे शिल्प और अंतर्वस्तु के स्तर पर ज्यादा परिपक्व हैं। इन ग़ज़लों की एक खासियत यह भी है कि इनमें वे संकेतों/इशारों में ज्यादा बात करते हैं। पर ये संकेत जटिल नहीं है। इनके प्रतीकों को पकड़ने में ज्यादा दिक्कत नहीं आती। उनकी ग़ज़ल की शक्ति इसमें भी है कि दंगों की विभीषिका में भी उनमें आशा का स्वर है। ग़ज़लकार अंदर से टूटा नहीं, मजबूत है। उसे विश्वास है कि आने वाली पीढ़ियाँ इन विकट समस्याओं का हल तलाश लेंगी। इसीलिए 'नज़र ये किसकी लगी' ग़ज़ल के अंत में वह लिखता है-

**बहुत दिनों से हैं पेड़ों की डालियाँ नंगी,**
**सँवार देंगे उन्हें आके कल नए पत्ते।**[19]

समकालीन समय के और भी बहुत से ग़ज़लकार ग़ज़लें लिख रहे है। जिन पर इस लेख में चर्चा संभव नहीं है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि हिन्दी में ग़ज़ल की एक समृद्ध परम्परा है और समकालीन दौर में काफी तादाद में ग़ज़लें लिखी जा रही है। डॉ. अमरनाथ का कहना है कि ''आज की ग़ज़ल, वह चाहे उर्दू की हो या हिन्दी की, जन चेतना से लैस होकर अपने सामाजिक दायित्व का बखूबी निर्वाह कर रही है, अब वह ज़माने की आवाज़ और चेतना बन गयी हैं''[20] सच है। परंतु मुझे यह भी लगता है कि नब्बे के दशक के बाद एलपीजी की जो प्रक्रिया शुरू हुई और उससे समाज में जो अंतर्विरोध उपजे उन्हें समकालीन ग़ज़ल ने कम ही छुआ है और इसी दौर में विमर्श की जो अनुगूँज साहित्य-क्षेत्र में सुनाई दी उसको हिन्दी ग़ज़ल ने लगभग अनसुना ही कर दिया है। यह समकालीन ग़ज़ल की सीमा है। उम्मीद है वह इस स्थिति से स्वयं को उबार लेगी। उम्मीद इसलिए क्योंकि ''विधाओं का सेचुरेशन या अन्त नहीं हुआ करता। वे विकास करती हैं, उनका स्वरूप, शैली और कथ्य बदलते रहते हैं।''[21]

लेखक हिन्दी विभाग, डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम सरकारी कॉलेज,
में यू.टी. एडमिनिस्ट्रेशन, दादरा एवं नागर हवेली, डोकमार्डी, सिल्वासा
में सहायक प्रोफेसर हैं।

# संकोच से मुक्त होती नारी और देवताले की कविता

❍ अमरेन्द्र कुमार पाण्डेय

**कवि के काव्य-प्रक्रिया की निर्मिति किसी एक सामर्थ्य की नहीं बल्कि अनेक सामर्थों की वजह से है। चन्द्रकान्त देवताले, मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय की तरह समाज के भीतर के बारीक अन्तर्द्वन्द्व को उभारने की कोशिश करते हैं, यह द्वन्द्व व्यवस्था से लेकर आत्म चिंतन तक का है, समय के आर-पार का है और कवयित्रियों की नारी दृष्टि जितनी उदार आज के समय में है। क्या पुरुष कवियों की नारी दृष्टि भी उतनी स्वतंत्र है, उदार है या परम्परित रूप ही लिये हुए है।**

स्त्री पर पुरुष अधिकार का अस्तित्व अब सवालों के घेरे में है। उस पर चिंतन और उसकी युगों से चली आ रही पुरानी छवि को लगातार खण्डित किया जा रहा है। उन्हें 'देह' से बाहर लाया गया है और आज विमर्शों के दौर में कविता के केन्द्र में नारी भी प्रमुखतया चर्चा पा रही है। इन्हीं कुछ सवालों से इधर की कविता का केन्द्रीय सरोकार उभरकर सामने आ रहा है। कविता का यह सरोकार उसका जन चरित होना है। इस तरह की काव्यवस्तु की विविधता और गहराई को निरन्तर भरने का काम एक कवि बड़ी संजीदगी से कर रहा है, जिसका नाम है चन्द्रकांत देवताले। वे ऐसे कवि हैं जो लोक और नागर अनुभवों के धनी हैं। जीवन से जुड़ने के लिए सभी पक्षों पर बातचीत तब तक अधूरी रहेगी जब तक कि हम सामाजिक कायदों से बद्ध-निबद्ध, दृष्टि से परे अपने पूरे समर्पण के साथ परिवार, समाज को लगातार आगे ले जाने वाली नारी पर बात ना करें। जीवन का एक मजबूत पक्ष नारी है। कवियों के यहाँ नारी किन रूपों में जगह पाती है, उसकी अस्मिता, सोच कैसे परिवर्तित हो रही या अभी भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। स्त्री के बदलते चिंतन और उसकी छवि को देवताले की कविताओं में पहचानने की कोशिश इस शोधालेख में है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि देवताले की कविता में जो भी दृष्टि नारी को लेकर आयी है, उसे विभिन्न

सैद्धांतिक सरोकारों एवं चिंतन के दायरे में बाँधने की कोशिश एकदम नहीं है बल्कि उससे उसे मुक्त रखने का प्रयास किया है और यहाँ सवालों की टकराहट स्त्री की परम्परागत व्यवस्था से अधिक है।

उनकी कविता में प्रयोग का इतना सुगठित प्रयोग दिखाई पड़ता है कि कभी-कभी असफल सा प्रतीत होता है। दरअसल चन्द्रकान्त देवताले बीसवीं सदी के सातवें दशक से काव्य-प्रक्रिया में संलग्न हैं। तत्कालीन समय कहीं-न-कहीं अकविता का समय है इसलिए उनकी कविता में निराशा, पराजय बोध का प्रभाव भी दिखाई देता है।

कवि के काव्य-प्रक्रिया की निर्मिति किसी एक सामर्थ्य की नहीं बल्कि अनेक सामर्थों की वजह से है। चन्द्रकान्त देवताले, मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय की तरह समाज के भीतर के बारीक अन्तर्द्वन्द्व को उभारने की कोशिश करते हैं, यह द्वन्द्व व्यवस्था से लेकर आत्म चिंतन तक का है, समय के आर-पार का है और कवयित्रियों की नारी दृष्टि जितनी उदार आज के समय में है। क्या पुरुष कवियों की नारी दृष्टि भी उतनी स्वतंत्र है, उदार है या परम्परित रूप ही लिये हुए है। उदाहरण के लिए धूमिल के लिए 'स्त्री' पूंजी है, वस्तु है, जब वे लिखते हैं कि, ''स्त्री पूंजी है / बीड़ी से लेकर / विज्ञापनों में फैली हुई।''[1]

दरअसल जितना यह धूमिल के समय का सच था उतना ही उसी समय में रहते हुए एक कवि की सोच में आज के वर्तमान समय का भी सच है, दूरदर्शी एवं बड़े कवि की जिम्मेदारी है कि वह अपने से आगे के समय के सच से परिचित करा दें और इसे परिचित कराने में धूमिल सफल रहे हैं। जबकि रघुवीर सहाय की 'स्त्री' दूसरे की इच्छाओं पर निर्भर है। तभी तो नारी विचारी है / पुरुष की मारी' है। वहीं देवताले स्त्री के यथार्थ और रोमेंटिसिज्म के विरोध स्वरूप निकट के रिश्तों को भावात्मक रूपों में महत्व नहीं देते हैं बल्कि वे संस्कारी और कुल, सनातन कर्म-यातना से समर्थ्य नारी के प्रति बेहद लगाव रखते हैं। देवताले की औरत निजी संसार, उसकी व्यस्त दिन-चर्या और उस दिनचर्या में बोर होकर सुबह से शाम तक की प्रक्रिया को बार-बार दोहराती रहती है और अपने 'टाइप दुनिया' से ऊब कर अपने अस्तित्व की खोज के लिए तत्पर रहती है। कवि नारी के प्रति आदर भाव व्यक्त करता है और यह आदर भाव औदात्य की कोटि तक पहुँच जाता है।

'भूखण्ड तप रहा है' कविता में नारी के प्रति इसी आदर भाव को व्यक्त किया गया है- 'औरत जो चंद्रमा और संगीत का शब्द है / औरत जो समुद्र है और समुद्र का नमक भी / औरत जो शब्द है और सपनों का छत्ता बनाती मधुमक्खी भी।'

औरत की मान, मर्यादा उसकी सामाजिक स्थिति का जो चित्रांकन कवि ने खींचा है वह उसके बेहतर और विलक्षण रूप को दर्शाता है। जबकि औरत की शक्ति और उसकी दारूण स्थिति का भी देवताले चित्र खींचते हैं। देवताले की कुछ महत्वपूर्ण कविताएँ माँ पर भी केन्द्रित हैं-

'माँ जब खाना परोसती थी' पंक्ति में माँ और बेटे के बीच प्रेम और वात्सल्य के गहन क्षणों को कवि सघन अभिव्यक्ति देने का काम किया है। इसी तरह 'माँ पर नहीं लिख सकता

कविता' में कवि अपनी असमर्थता जाहिर कर रहा है कि माँ की संवेदना को कविता में इंगित कर पाना काफी मुश्किल होता है, जो भी उसे अगर प्रकट करता है तो वह संकेतों में ही प्रकट कर पाता है। उसका व्यक्तित्व, वात्सल्य, कर्मठ, बेहद परिश्रमी, स्नेहमय रूपों से तो बनता ही है वहीं आत्मा, बुद्धि, चेतना के गहरे संकेत भी उस विराट व्यक्तित्व में शामिल है। कविता इस प्रकार है–

''माँ ने हर चीज के छिलके उतारे मेरे लिए / देह, आत्मा, आग और पानी तक के छिलके उतारे / और मुझे कभी भूखा नहीं सोने दिया।''[2]

देवताले अपनी पत्नी के श्रम को शारीरिक थकान के रूप में चिन्हित करते हैं और इसे सनातनी सत्य की तरह देखते हैं–

''सुख पुलकने से नहीं / रबने खटने के थकने से / सोई हुई है स्त्री / सोई हुई है जैसे उजड़कर गिरी सूखे पेड़ की टहनी / अब पड़ी पसरकर।''[3] उपर्युक्त पंक्ति में दिन-रात खटती हुई स्त्रियों की दशा ऐसी बन जाती है कि वह धीरे-धीरे उजाड़ की तरह लगने लगती है।

देवताले ऐसे कवि है जो पत्नी के व्यक्तित्व को प्रतीकात्मक ढंग से विराटता की कोटि और महानता की हद तक ले जाकर उसको विस्तृत रूप प्रदान करते हैं। उनकी 'समुद्र' कविता इसी तरह की है जिसमें पति-पत्नी के संबंधों पर विचार किया गया है।

चन्द्रकांत देवताले अपनी काव्यानुभूति में 'स्त्री', प्रेम और सामाजिक संभावनाओं की सैद्धान्तिक समझ के बरक्स व्यवहारिक समझ का मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत करते हैं। 'स्त्री' देवताले की कविता में 'माइग्रेशन' का शिकार हुई है। प्रेम करती हुई स्त्री है किन्तु उसका स्वरूप दाम्पत्य प्रेम का अधिक है। औरत और बच्चों का मार्मिक चित्र देवताले की कविता में खूब आता है। कवि की नजर में 'औरत' कामुक देह वाली नहीं है और न ही निहायत बाजार से निर्मित हो रही इक्कीसवीं सदी की औरत, वह है तो निराला की कविता 'वह तोड़ती पत्थर' की तर्ज पर। वहाँ भी श्रम की ईमानदारी का सौन्दर्य है और चन्द्रकांत देवताले की कविता में भी ग्रहण (Adoptation) का तर्ज वही है किन्तु देवताले उसे श्रम के साथ-साथ शीलवान बना के 'श्रमिक महिलाओं' की नियति पर सवाल उठाते समाज को चुप करने की कोशिश करते हैं। यहीं पर कवि स्त्री के 'विजन' को उसके कर्म की निरन्तरता में देखने का प्रयास करता है। लीलाधर मंडलोई के माध्यम से यह पंक्ति द्रष्टव्य है- सड़क पर पत्थर तोड़ती उस औरत के पास / जो गिट्टियों के बीच बैठी थी एक निराला की कविता में / आजतक उसका पसीना सूखा नहीं / आज तक उसकी वह दृष्टि आकाश में छाई हुई।''[4]

यह कविता सिर्फ निराला का स्मरण नहीं है, आधुनिक सैद्धान्तिकियों में इसे 'अन्तरपाठीय' शैली के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। क्योंकि इसका आधार एक शब्द, वाक्य, पंक्ति, 'ग्रहण' कुछ भी हो सकता है। उपर्युक्त पंक्ति में निराला और 'औरत' शब्द इसी तरह का है जिसका आधार पहले से ही है। दरअसल चन्द्रकान्त बार-बार मुक्तिबोध, शमशेर, श्रीकांत वर्मा को याद इसलिए करते हैं कि वे उनकी काव्य-परम्परा के संस्कार और स्वर से अपने कवि-कर्म को जोड़ सकें। ''देवताले का काव्य केनवास अपने समकालीनों से कहीं अधिक समृद्ध इस वजह से भी है कि वे यात्रा में चीजों, स्थितियों, चरित्रों और संदर्भों के पास रुकते, आत्मसात

करते और उन्हें साथ ले लेते हैं।''[5]

चन्द्रकांत देवताले की कविता में स्त्री 'कुलीन वर्ग' की नहीं है वह साधारण से लेकर निम्न मध्यवर्ग की अधिक है। वह अकेली, हताश व बेवश है। 'कोई नहीं उसके साथ' कविता में विवश स्त्री का चित्रण देखने को मिलता है। इस कविता में सिर्फ विधवा स्त्री के दर्द को ही कवि रेखांकित नहीं करता बल्कि उसे 'विस्थापन' से भी जोड़ देता है। यह पंक्ति देखिए-

''तहस-नहस कर दी गई उसकी झोंपड़ी / चिथड़ों बरतन भांडों समेत / बेदखल कर दी गई जो विधवा / डरते-कांपते अधनंगे तीनों बच्चे खड़े / तकते उसे जैसे वह कोई खौफनाक दृश्य / तीसरे जो भी बाचेंगे / विस्थापन की यह हिंसा... विपदा के सिवा कोई नहीं है / फिलवक्त उस औरत के साथ।''[6]

गरीबी और लाचारी से निर्मित यह मार्मिक कविता उन तमाम लोगों को सोचने पर मजबूर करती है जिसे विस्थापन से उपजी पीड़ा का थोड़ा भी एहसास है। ऐसे में कवि के द्वारा यह दिखाना हमारे समय के ज्वलंत सवालों में से है जिसमें पता नहीं कितनी जिन्दगियाँ विस्थापन के दंश से न सिर्फ तबाह होती हैं बल्कि इनके लिए सरकार द्वारा विकास के नारे खोखले दिखाई पड़ते हैं। लीलाधर मंडलोई लिखते हैं ''कदाचित स्त्री और बच्चों की इतनी मार्मिक छवियाँ किसी और के पास नहीं। एक तरह से आदिवासी स्त्रियों के जीवन आख्यान को कविता में लाने वाले वे हिन्दी के अग्रणी कवि हैं। गोंडवाना के अलावा मालवा-निमाड़ के हाशिये से जितने स्त्री-चित्र देवताले जी ने सिरजे हैं, उतने किसी और कवि ने नहीं।''[7]

स्त्री को लेकर आज बहुत अधिक बहसें हो रही है जिसके कारण उसकी पहचान बनी तो है किन्तु वह बाजार की शर्तों पर अधिक। ऐसे में सामाजिक- ऐतिहासिक जड़ता की शिकार स्त्री के लिए ज्यादातर समय अपनी पहचान की प्राप्ति एवं तकलीफ में ही खत्म हो जाती है। चन्द्रकान्त देवताले की कविता में आई 'औरत' नींद में भी खुश नहीं दिखती है, उसकी सांसों में दुख दिखाई पड़ता है। दुख और उसकी साँसें एक मेक हो जाती हैं। ''चन्द्रकान्त देवताले बताते हैं कि नींद में स्त्री को हँसते हुए देखना एक सपना है पर वह हँसना तो दूर, गहरी नींद में भी अपने माथे की सलवटें तक नहीं मिटा पाती।''[8] इतिहास और समाज में 'स्त्री' का दर्द बहुत सघन, गहरा और गाढ़ा है। मिथकों में पति 'देव' होता है, उस सोच से स्त्री आगे बढ़ी, उस पर बहसें होने लगीं, वह सशक्त हुई और इस सशक्तीकरण को और अधिक तीव्र करने के लिए 'विमर्श' शुरु हुआ। आधुनिक समय में बाजार ने स्त्री को शक्ति दी तो वहीं उपभोक्तावादी सोच ने 'देह' को वस्तु की तरह प्रयोग किया। उसकी सामाजिक सुरक्षा लगातार बिकराल होती गई है। जबकि आधुनिक तकनीकी ने उसे 'सरोग्रेसी' बनाकर छोड़ दिया, दासता और उत्पीड़न उसके सामने पहले भी था और आज भी है, किन्तु उसका स्वरूप बदला हुआ है। यह दुख पहाड़ की तरह है जिसे वह पार नहीं कर पा रही है। चन्द्रकान्त देवताले ने सबसे अधिक 'औरतों' पर कविता लिखी है। 'औरत' कविता में वे लिखते हैं- वह औरत / आकाश और पृथ्वी के बीच / कब से कपड़े पछीट रही है / पछीट रही है शताब्दियों से / धूप के तार पर सुखा रही है / ...एक औरत / दिशाओं के सूप में खेतों को / फटक रही है / एक औरत / वक्त की नदी में / दोपहर के पत्थर से / शताब्दियाँ हो गईं / एड़ी घिस रही है

/ ...उसके हाथ  अपना चेहरा ढूँढ़ रहे है / उसके पांव जाने कब से सबसे अपना पता पूछ रहे हैं।''[9]

औरत और प्रकृति की एकरुपता निरन्तर जीवन को प्रेरित करती रहती है। अभी भी उसे अपनी पहचान चाहिए जो स्वाभिमान आधारित अधिक हो। चन्द्रकान्त देवताले ने 'माँ' पर भी सुन्दर कविता लिखी है। समय के प्रत्येक मोड़ पर माँ का सबक जीवन जीने को प्रेरित करता रहता है किन्तु आज वह सबक भी काम नहीं आता है क्योंकि आज मृत्यु के वाहक हर जगह मौजूद हैं, उनके रूप अलग-अलग हैं। देवताले की 'यमराज की दिशा' कविता मनुष्य को भय से मुक्त करने की चेतना का नाम है-

माँ की ईश्वर से मुलाकात हुई या नहीं / कहना मुश्किल है / पर वह जताती थी जैसे / ... माँ ने एक बार मुझसे कहा था- / दक्षिण की तरफ पैर करके मत सोना / वह मृत्यु की दिशा है।''[10]

विष्णु खरे के अनुसार ''चन्द्रकान्त देवताले ने स्त्रियों को लेकर हिन्दी में शायद सबसे ज्यादा और सबसे अच्छी कविताएँ लिखी हैं लेकिन यहाँ उनकी कुछ ऐसी रचनाएँ हैं जो माँ और आजी की दुनियाओं और स्मृतियों में जाती हैं किन्तु वहीं तक सीमित नहीं रहतीं वहाँ एक कैंसर पीड़ित जिलाबदर औरत है। बलात्कार के बाद तीन टुकड़ों में काटकर फेंकी गई युवती है।''[11]

देवताले स्त्रियों के प्रति हो रहे बुरे बर्ताव को लेकर चिन्तित नजर आते हैं उसमें भी वे मध्यवर्गीय एवं निम्नवर्गीय औरतों के दर्द को उद्घाटित करते नजर आते हैं। 'उस औरत का दुख' कविता औरत के साथ होने वाले वीभत्स व्यवहार को तो रेखांकित करती ही है साथ ही 'न्यायिक प्रक्रिया' पर भी कई तरह के सवाल उठाती नजर आती है। कविता की पंक्ति देखिए-

''कैंसर पीड़ित उस जवान औरत को / लतियाकर ससम्मान ज़िलाबदर कर दिया लफंगों के न्याय ने / और न्यायमूर्तियों ने भरी सभा में इसे प्रक्रिया कहा... / लफंगों के न्याय, माँ के पत्थर हुए खून / या बूढ़े बाप द्वारा ईश्वर को दी गई सजा / बहुत बहस हुई पर,
कुछ भी नतीजा नहीं निकला।''[12]

चन्द्रकान्त देवताले की कविताओं में स्त्री के प्रति हो रहे अन्याय का रेखांकन खूब है। मारपीट, धोखाधड़ी, हत्या, बलात्कार, गुलामी, शंका आदि अनेक रूपों में स्त्री झुलस रही है। कवि के लिए बेटियाँ भाषा को संस्कारित करती है, सार्थक जीवन जीने को प्रेरित करती है, भाषा सिर्फ अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है बल्कि जीवन और व्यक्तित्व का सम्पूर्ण परिष्कार है, किसी भी देश की भाषा में प्राचीन सभ्यताएँ निरन्तर वर्तमान से सम्पर्क बनाए रखती हैं। यह संवाद अपने देश के स्त्री-पुरुष के व्यवहार से निर्मित होता है, इसे बनाने में जितनी भूमिका पुरुष की है उतनी ही भूमिका स्त्री की भी है। ऐसे में जब बेटियों की अभिव्यक्ति का मामला हो तो चन्द्रकान्त भाषा में हया, लिहाज और शालीनता का परिचय देते हैं और इस परिचय में विवेक और कला का गहरा जुड़ाव होता है। देवताले लिखते हैं ''सिर्फ बेटियों का पिता होने से / कितनी हया भर जाती है शब्दों में।''[13]

पुरुष कई तरह से स्त्रियों को प्रताड़ित करता है उसी प्रताड़ना में उसे (स्त्रियों को) धारा प्रवाह बोलने की मनाही है, अगर वे घर पर अकेली है तो उस पर तमाम तरह के शक किए जाते

हैं। चन्द्रकान्त देवताले स्त्रियों के इस पक्ष के प्रति काफी संजीदा हैं। इसीलिए वे घर में अकेली रहने वाली औरतों के लिए सुझाव देते हैं कि अगर उसका पति शक्की हो तो उसे निम्न कार्य करना चाहिए। पंक्ति द्रष्टव्य है- ''एक पालतू आदमी है या नहीं / यह बात बेमानी है / पर वह शक्की हो सकता है / इसलिए उसकी प्रतीक्षा करो / पर छज्जे पर खड़े होकर नहीं / ...बिस्तर पर अच्छी किताबें पटक दो / जिन्हें पढ़ना कतई आवश्यक नहीं होगा / पर यह विचार पैदा करना अच्छा है / अकेले में तुम इन्हें पढ़ती हो।[14] यह कविता सिर्फ 'घरेलू हिंसा' की तरफ संकेत ही नहीं करती बल्कि वह सदियों से पिस रही 'स्त्री' की सच्चाई से रूबरू कराती है। औरत की जिन्दगी कितनी घुटन भरी है, उसकी आजादी उसके पति के अनुसार तय होती है, यह पंक्ति इसे उभारने में सफल रही है।

चन्द्रकान्त देवताले 'स्त्री' के साथ हो रहे बलात्कार जैसी असहज घटना को बड़ी क्रूरता के साथ व्यक्त करते हैं। समाज के किसी भी वर्ग की औरतों के साथ बलात्कार की घटना निदंनीय है किन्तु कमजोर वर्ग की औरतें इसका शिकार आसानी से हो जाती हैं और तो और बलात्कारी शक्तिशाली हो जाता है क्योंकि पीड़िता इसका प्रतिरोध नहीं कर पाती है, उसकी तरफ से प्रतिरोध करने वाला भी कोई नहीं है, समाज का 'सम्प्रभु' 'देवी-उत्सव' में मग्न है वह इस कमजोर स्त्री के लिए टिप्पणी क्यों करे। कवि न सिर्फ सामाजिक चेतना पर व्यग्य करता है बल्कि प्रशासनिक और न्यायिक प्रक्रिया पर भी प्रहार करता है। अफीम के खेतों का जिक्र करते हुए कवि ने बांछडा औरतों के जिस्मफरोशी को न सिर्फ दृश्य की प्रक्रिया से जोड़ दिया बल्कि यह उनके पतियों की मौजूदगी में होता है बताकर, सामान्य संवेदना को और भयाक्रान्त कर देता है। इस संदर्भ में यह कविता देखी जा सकती है-

अफीम के खेतों के इलाके में बांछड़ा औरतें / अपने बोदे
पतियों की मौजूदगी में / देह का धंधा करती है।''[15]

चन्द्रकान्त देवताले की कविता में स्त्री का अकेलापन और डिप्रेशन से युक्त औरत की भी छवि है तो वहीं कपड़े धोने वाली एक छोटी सी लड़की का भी उल्लेख है। वे कई बार अपनी कविता में औरतों के ऐसे मार्मिक चित्र खींचते हैं कि समकालीन कविता की भयावह तस्वीर उभर आती है। नितान्त एकांत के पल और निजी पारिवारिक सम्बन्धों से बनी 'औरत' इनकी कविता में जगह पाती है। चन्द्रकान्त देवताले की कविता में 'औरत' की विभिन्न तरह की आवाजों, अनुगूंजों को सुना जा सकता है, वह प्रेम का हो सकता है या दर्द का। उनकी प्रेम कविता पर भी प्रसंगवश बात करना जरूरी है। प्रभात त्रिपाठी इस सन्दर्भ में लिखते हैं- ''तुम्हारी आँखें', 'तुम्हारी हथेलियों पर', 'मेरे भीतर', 'मैं आता रहूँगा तुम्हारे लिए' जैसी अनेक कविताओं में एक झीने अवसाद से लिपटा उसका प्रेम ही उसे ऐसी दृष्टि देता है, कि वह आत्मेतर संसार के जानलेवा संघर्ष को इस तरह देख पाता है, जैसे वह उसके अपने जीवन की अन्तरंगता का अविभाज्य और अपरिहार्य अंग है।''[16]

इस प्रकार चन्द्रकान्त देवताले के काव्य अनुभवों के विराट् संसार में 'स्त्री' से सम्बन्धित कुछ अनुभूतियों को टटोलने का प्रयास है अभी अनथक जीवंत और अनवरत सक्रियता से बार-बार इस पक्ष की तरफ जाने की गुंजाइश है। देवताले की स्त्री श्रम करती स्त्री है, घरेलू है,

उसकी तपिस में पीड़ित औरत है, सामाजिक और न्यायिक रूप से प्रताड़ित औरत है, पहरेदारी में कैद औरत है वह संघर्ष करती है किन्तु विद्रोह नहीं।

**संदर्भ ग्रन्थ**


1. धूमिल, सुदामा पांडे का प्रजातंत्र, पृ. 130
2. चंद्रकांत बांदिवडेकर, चंद्रकांत देवताले की कविता : कविता-स्वभाव, पृ. 41
3. वही, पृ. 42
4. लीलाधर मंडलोई, कविता का तिर्यक, मेधा बुक्स, दिल्ली, संस्करण-2003, पृ. 19
5. वही, पृ. 18
6. चन्द्रकान्त देवताले, पत्थर फेंक रहा हूँ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली 2010, पृ. 78
7. शुक्रवार (पत्रिका) सं. विष्णु नागर, पृ. 60, 16 से 22 दिसम्बर, 2011
8. विनय विश्वास, आज की कविता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2009, पृ. 113
9. चन्द्रकान्त देवताले, चुनी हुई कविताएँ, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2012, पृ. 48-49
10. वही, पृ. 109
11. चन्द्रकान्त देवताले, उजाड़ में संग्रहालय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
12. वही, पृ. 78
13. चन्द्रकान्त देवताले, लकड़बग्घा हँस रहा है, संभावना प्रकाशन, सं. 1980, पृ. 102
14. चन्द्रकान्त देवताले, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 51
15. वही, पृ. 23
16. चन्द्रकाप्त देवताले, 'पत्थर फेंक रहा हूँ, परिशिष्ट से, पृ. 178



मो. : 09871940171


✧ ✧ ✧


सम्पर्क – ए–191, गली नं.–4, पार्ट–2, प्रथम पुस्ता, सोनिया विहार, दिल्ली–110094
मोबाइल : 09871940171

डॉ. अमरेन्द्र पाण्डेय युवा समीक्षक और समकालीन कविता में विशेष रुचि रखते हैं। वे दिल्ली विश्वविद्यालय से कुँवर नारायण पर शोध कार्य सम्पन्न कर चुके हैं। खालसा कॉलेज में अतिथि प्रवक्ता के रूप में अध्यापन अनुभव, तमाम पत्रा–पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित, उम्मीद पत्रिका में सम्पादन सहयोग।

# रूप और भाषा का प्रश्न

## प्रेमचंदोत्तर उपन्यास
## (अस्सी के दशक तक)

अवनीश मिश्र

**'यह ठीक है कि आदर्श और द्वंद्व प्रेमचंद से ही शुरू हो गया था। प्रेमचंद अपने उपन्यासों में धीरे-धीरे यथार्थ की ओर बढ़ते गये थे। उनके बाद के उपन्यासों (खासतौर पर 'गोदान') में यथार्थ का प्रतिफलन अनेक रूपों, शैलियों और आयामों में हुआ है। 'गोदान' से 1950 तक के उपन्यासों में आदर्श और यथार्थ के निरूपण में कभी वैयक्तिक धारणाएं केंद्र में रहीं, तो कभी मनोवैज्ञानिक सत्ताएं।**

हिन्दी में उपन्यासों का ढाँचा मूलत: पश्चिम से लिया गया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी यह स्वीकारा है कि 'उपन्यास और छोटी कहानी के ढाँचे हमने पश्चिम से लिये हैं। छोटी कहानी और यह ढाँचा पश्चिम के यथार्थवादी ढाँचे से मेल खाता है। लेकिन, वास्तव में उपन्यास की यथार्थवादी संरचना प्रेमचंद के उपन्यासों में मिलती है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में किसान जीवन को चित्रित किया। संभवत: इसी को आधार बनाकर नामवर सिंह ने उपन्यासों को किसान जीवन का महाकाव्य कहा होगा। हालांकि, निर्मल वर्मा ने इस निश्पत्ति पर आपत्ति की है। प्रेमचंद के उपन्यासों को निर्मल वर्मा ने विक्टोरियन ढाँचे में बंधा हुआ उपन्यास कहा है, तो इसके पीछे उपन्यासों की सोद्देश्यता को रेखांकित करने की दृष्टि का हाथ माना जा सकता है। प्रेमचंद के उपन्यासों में कथा तत्व का हास होता है। घटनाओं का स्थान मानव क्रिया-व्यापार लेती हैं। गोपाल राय कहते हैं, इसी स्थान से उपन्यासों का जन्म होने लगता है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में कार्य-कारण शृंखला मिलती है और कथाकार एक निश्चित अंत को ध्यान में रखकर उपन्यास की रचना करता है। यानी यह उपन्यास का बंद ढाँचा है, जिसमें कथा की नियति पहले से तय होती है। निर्मल वर्मा ने लिखा है कि 'गोदान के पहले

दृश्य में जब हम होरी को देखते हैं, तभी हमें उसका अंत कुछ-कुछ मालूम हो जाता है।' इस ढाँचे में किस्सागो प्रधान होता है। प्रेमचंद अपने उपन्यासों में, जैसा कि लगभग सभी आलोचकों ने चिह्नित किया है, लंबे-लंबे वक्तव्य देते हैं। किस्सागो अपनी तरु से बहुत कुछ कहने की कोशिश करता है। यानी कथा के भीतर या पात्रें के क्रिया-व्यापार से जो बातें छूट गयी हैं, उसे वे अपने कथनों से भरने की कोशिश करते हैं। प्रेमचंद के इस बंद ढाँचे को तोड़ने का जैनेन्द्र काम ने किया। जैनेंद्र ने जहाँ कथा की नियति को लेखक से मुक्त कर दिया, वहीं, सबसे बड़ी बात जो उन्होंने की वह यह कि उन्होंने किस्सागो की जगह 'मैं' को स्थापित कर दिया। त्यागपत्र में जस्टिस दयाल ही अपनी कथा कहता है, किस्सागो का इसमें हस्तक्षेप नहीं होता है। इसने पहली बार यह मुमकिन हुआ कि पात्रों पर लेखक का दबाव कम हुआ। अब उसमें अपने हिसाब से स्वाभाविक तरीके से बढ़ने, लेखक के मन की जगह अपने मन के अनुसार बढ़ने की क्षमता पैदा हुई। जैनेंद्र का उपन्यास 'त्यागपत्र' यदि आपबीती की शक्ल में लिखा गया, तो अज्ञेय का उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' जीवनी की शक्ल में देखा गया। यह उपन्यास बीसवीं सदी के पांचवें दशक की उपलब्धि है। इसके शीर्षक में ही 'जीवनी' के प्रयोग को देखकर यह मान्यता दृढ़ हुई कि यह उपन्यास खुद अज्ञेय की जीवनी है। उपन्यास के ढाँचे के लिए जीवनी का प्रयोग एक अभिनव प्रयोग है और इसने हिन्दी उपन्यासों के क्षितिज को विस्तार देने का काम किया और शिल्प की नयी संभावनाओं को जन्म दिया।

'यह ठीक है कि आदर्श और द्वंद्व प्रेमचंद से ही शुरू हो गया था। प्रेमचंद अपने उपन्यासों में धीरे-धीरे यथार्थ की ओर बढ़ते गये थे। उनके बाद के उपन्यासों (खासतौर पर 'गोदान') में यथार्थ का प्रतिफलन अनेक रूपों, शैलियों और आयामों में हुआ है। 'गोदान' से 1950 तक के उपन्यासों में आदर्श और यथार्थ के निरूपण में कभी वैयक्तिक धारणाएं केंद्र में रहीं, तो कभी मनोवैज्ञानिक सत्ताएं, कभी सामाजिक दृष्टियाँ हावी रही हैं, तो कभी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य। सन् 1950 के बाद के उपन्यासों में आदर्श और यथार्थ के संबंध निरूपण की वैसी पद्धतियाँ और दृष्टियाँ नहीं रहीं।'

अज्ञेय के आधुनिकतावादी ढाँचे को दो उपन्यासों ने गहरी चुनौती दी। इसमें एक उपन्यास है 'मैला आँचल', तो दूसरा उपन्यास है, 'बाणभट्ट की आत्मकथा'। एक का उपजीव्य भूगोल है, तो दूसरे का उपजीव्य इतिहास। प्रेमचंद के उपन्यासों में आया गाँव अवध का कोई गाँव है। यह गाँव प्रातिनिधिक है। यथार्थ है पर वास्तविक नहीं। कथा किसी विशेष गाँव की होने के कारण महत्वपूर्ण नहीं है। गाँव, कथा के होने के कारण, उसके लिए है। रेणु गाँव को लेकर इस प्रेमचंदीय औपन्यासिक दृष्टि को बदलकर रख देते हैं। ''मैला आँचल' में एक विशेष भूभाग केंद्र में था और इससे कथा और चरित्र विधान में मौलिक अंतर हो गया। ...गौर करने की बात यह है कि 'मैला आँचल' में एक प्रेक्ष्य बिंदु के उपस्थित होने के कारण संरचनात्मक बिंदुओं में भी परिवर्तन आया।' जीवनीपरक उपन्यासों में अमृतलाल नागर के उपन्यासों 'मानस का हंस' और 'खंजन नयन' ऊपरी तौर पर तो परंपरागत उपन्यासों का ढाँचा लिये हुए है, लेकिन उपन्यास की आंतरिक बुनावट के उपकरण यहाँ दूसरे उपन्यासों से भिन्न हैं। इसमें वास्तविक चरित्रों की

औपन्यासिक पुनर्प्रस्तुतिशोधा के आधार पर की गयी है। जाहिर है, यहाँ कल्पना कथा को रूप देने में सहायक है न कि कथा का निर्माण करने में। जब कथा, पहले से लेखक के पास हासिल है, तो वह कथा में बहुत ज्यादा बदलाव नहीं कर सकता। तब तो और भी नहीं, जब वह तुलसीदास और सूरदास की कथा लिख रहा हो। शोध और कल्पना के सहारे एक वास्तविक चरित्र को साकार करना, कथा को जीवनी बना देना इन उपन्यासों की खासियत कही जा सकती है।

'मैला आँचल' की भूमिका में रेणु ने उपन्यास का कथानक पूर्णिया को बताया। इसमें भारतीय गाँवों की वास्तविक रक्त-मज्जा है। कथा गाँव में नहीं है, गाँव ही कथा है और गाँव का जीवन उर्ध्वाधार नहीं, क्षैतिज फैला हुआ है, इसलिए उपन्यास का विकास भी उर्ध्वाधार न होकर क्षैतिज होता है। उपन्यासों की ऐसी परंपरा जिसमें हमारे पास होरी, मृणाल और शेखर जैसे पात्र हैं, अचानक उपन्यास का पात्र बन जाता है अंचल। इसने उपन्यास की संरचना को तोड़ने का काम किया। उपन्यास गाँव की अगल-अलग जगहों पर खुलता है। जैसे फिल्म अपने दृश्यों मे खुलती है। नेमिचंद्र जैन ने कहा है कि उपन्यासकार ने यहाँ पर कैमरे की तकनीक का प्रयोग किया है। यह सवाल बार-बार उठाया जाता रहा है कि क्या उपन्यासों का कोई भारतीय ढाँचा हो सकता है? इस सवाल का जवाब दिया हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' ने। यह उपन्यास सिर्फ भारतीय उपन्यास का मॉडल ही नहीं बना, बल्कि इसने विधाओं का संलयन आश्चर्यजनक सफलता के साथ किया। यह उपन्यास की संरचना में गल्प, इतिहास और आत्मकथा, सभी को मिलाता है। भारतीय उपन्यासों के संदर्भ में हम धर्मवीर भारती के उपन्यास 'सूरज का सातवां घोड़ा की भी बात कर सकते हैं। इस उपन्यास में कहानी कहने की पंचतंत्रीय शैली का उपयोग किया गया है। अलग-अलग विछिन्न कहानियों को जोड़कर उपन्यास कहने का यह प्रयास 'रूप' की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रयोग माना जा सकता है।

साठ और सत्तर के दशक में उपन्यास के ढाँचे में बड़ा प्रयोग करनेवाले तीन उपन्यास थे- 'रागदरबारी' (1968), 'तमस' (1973) और 'आधा गाँव' (1966)। 'राग दरबारी' व्यंग्य और वक्तव्य की शैली में लिखा गया। उपन्यास में कथा-तत्व क्षीण से क्षीणतर होता दिखता है। नायक लगभग गायब हो गया। कथा का स्थान टिप्पणियों ने लिया है। इस उपन्यास में उपन्यासकार की टिप्पणियां ऐसे हैं, जैसे कोई नश्तर चुभा रहा हो। इसे आलोचकों ने व्यंग्य उपन्यास और पैरोडी की शैली में लिखा गया उपन्यास कहा है। गौर करनेवाली बात यह है कि इस उपन्यास का रचनाकाल वही है, जिस काल में धूमिल 'पटकथा' जैसी कविता लिख रहे हैं। यह उपन्यास एब्सर्ड और हताशापूर्ण स्थितियों से जन्मा है। कुछ आलोचक इसे पराभव का उत्सव कहते हैं, लेकिन वास्तव में यह उपन्यास अपने समय का व्यंग्यपूर्ण क्रिटीक है, जिसमें जीवन पैरोडी के रूप में आता है।

भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' रूप के स्तर पर एक साहसी प्रयोग था। इसमें विभाजन की कथा कही गयी है। उपन्यास नायकविहीन है। कई कथाएं मिलकर समय की विभीषिका की कथा कहती हैं। नायक है, तो सिर्फ समय, जो मानवता पर भारी है। इस उपन्यास में एक क्रमहीनता है। स्मृतियों के सहारे लिखा गया यह उपन्यास स्मृतियों की क्रमहीनता का पालन

करता है। फॉर्म के स्तर पर यहाँ इस मायने में बड़ा प्रयोग दिखाई पड़ता है कि यहाँ इतिहास, स्मृति और आख्यान तीनों को पहली बार मिलाया गया है। यह वह प्रविधि है, जो नब्बे के दशक के बाद प्रमुखता से लेखकों ने अपनाया। इसमें कथाभूमि ही वास्तविक नहीं है। ऐतिहासिक पात्र, और ऐतिहासिक घटनाओं का भी वर्णन है। शिल्प के स्तर पर यह अंतर इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि अपने समय का दस्तावेज कहे जाने के बावजूद प्रेमचंद के उपन्यासों में ऐतिहासिक पात्रें, घटनाओं का जिक्र कहीं नहीं मिलता। वहाँ प्रतीकों से काम चलाया गया है। 'गोदान' की कथा, अवध में चले किसान आंदोलन को समझने के लिए अनिवार्य टैक्स्ट है, लेकिन इसमें न तो किसान सभा का कोई जिक्र है, न स्वामी सहजानंद सरस्वती का। 'तमस', में इतिहास का प्रयोग है। इसमें जवाहर लाल नेहरू, महात्मा गांधी, मोहम्मद अली जिन्ना, डाइरेक्ट एक्शन डे, जैसी घटनाओं का सीधा संदर्भ मिलता है। इतिहास का ऐसा ही प्रयोग विभाजन पर तमस से पहले लिखे गये यशपाल के उपन्यास 'झूठा सच' (1958 और 1960 प्रकाज़ित दो भाग) में दिखाई पड़ता है। उपन्यास के प्राक्कथन- 'आवश्यक' में यशपाल का यह कहना कि 'उपन्यास के वातावरण को ऐतिहासिक यथार्थ का रूप देने और विश्वसनीय बनाने के लिए कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम आ गये हैं, परंतु उपन्यास में वे ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं, उपन्यास के पात्र हैं।' आगे यशपाल यह जोर देकर कहते हैं कि कथानक में कुछ ऐतिहासिक घटनाएं एवं प्रसंग अवश्य हैं, परंतु संपूर्ण कथानक कल्पना के आधार पर उपन्यास है, इतिहास नहीं।' 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के साथ, निस्संदेह बिल्कुल भिन्न तरीके से तमस और झूठा सच, अपने दौर के इंटरलेक्चुअल उपन्यास हैं। नब्बे के दशक और उसके बाद दिखाई देनेवाले उपन्यासों के ये अग्रगामी कहे जा सकते हैं।

1964 ई. में आया निर्मल वर्मा का उपन्यास 'वे दिन' उपन्यास के परंपरागत चौखटों को तोड़ता है। 'यह आधुनिकता बोध की दृष्टि से ही नहीं, संचना की दृष्टि से भी एक महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृति है। इस उपन्यास में उपन्यास के दिक् की तो स्थिति है, लेकिन काल यहाँ बेमानी हो गया है। नरेंद्र मोहन ने लिखा है, 'इसमें उपन्यास की कालावधि महत्वहीन हो जाती है।' सत्तर के दशक के शुरू में आया उपन्यास, 'एक चूहे की मौत' (1971) की विशेषता इसमें आद्यंत फैंटेसी शैली या अतिकल्पनात्मकत शैली का प्रयोग है। 'मूल्यहीनता और आदर्शहीनता को फैंटेसी शैली में प्रस्तु करनेवाले बदीउज्जमाँ पहले लेखक हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि ऐसा नहीं है कि हिन्दी उपन्यास रूप को लेकर एक स्थापित और मान्य ढाँचे को लेकर अग्रसर हो रहे थे। वरिष्ठ कथा आलोचक मधुरेश लिखते हैं- 'अपनी प्रति में उपन्यास शुरू से ही एक बहुरूपिया साहित्य रूप है। वह एक ऐसे बड़े और जादुई झोले की तरह रहा है जिसमें कुछ भी रखा और छिपाया जा सकता है। हिन्दी में 'शेखर : एक जीवनी', 'मैला आँचल', 'राग दरबारी' आदि अनेक ऐसी रचनाएँ हैं, शुरू में जिन्हें उपन्यास माने जाने पर भी लोगों को ऐतराज था। आज ये हिन्दी के प्रतिष्ठित और उल्लेखनीय उपन्यासों में स्वीत और गणनीय हैं। उन्हें हिन्दी में नई धाराओं का प्रवर्तक तक माना जाता है।' अपने उद्भव से ही, और खासकर अगर उपन्यासों का वास्तविक उद्भव प्रेमचंद से माना जाये, तो कथा कहने के लिए उपन्यासकारों के लिए रूप के स्तर पर नये-नये प्रयोग हो रहे थे। ये प्रयोग सिर्फ कौतुक या प्रयोग

के कारण नहीं थे, बल्कि संप्रेशण की नयी स्थितियों के दबाव में इन्हें अपनाया जा रहा था। मोहभंग और हताशा की स्थिति को नेहरूवादी- योजनावादी निश्चित फॉर्म में नहीं कहा जा सकता था। इसके लिए उस ढाँचे को तोड़ना जरूरी था। रागदरबारी, मुर्दाघर और एक चूहे की मौत जैसे उपन्यास ये काम करते हैं। वहीं, दूसरी ओर आधुनिकतवादी और उत्तर-आधुनिकतावादी स्थिति को व्यक्त करने के लिए 'वे दिन' और 'कुरु-कुरु स्वाहा' और 'कसप' जैसे उपन्यास भी लिखे जा रहे थे। प्रेमचंद पूर्व युग से शुरू करके, आजादी के बाद के काल से होते हुए अस्सी के दशक तक आते हुए हम उपन्यासों की भाषा और रूप में बड़ा बदलाव देखते हैं। लेकिन, फिर भी इन बदलावों को लेकर एक बात यह समझने की है, इन परिवर्तनों से मूलत: उपन्यास की शैलियाँ बदलती हैं। विधा के तौर पर उपन्यास के रूप को बदलता हुआ हम इस युग में नहीं देख सकते हैं। इसी बिंदु पर हम एम.एम बाख्तिन के इस सिद्धांत को याद कर सकते हैं कि उपन्यास में कई शैलियाँ काम करती हैं और पत्र, डायरी, आत्मकथा वास्तव में उपन्यास की शैलियाँ हैं।

अस्सी के दशक तक के हिन्दी उपन्यासों की भाषा को लेकर जो एक बात सबसे यकीन के साथ कही जा सकती है, वह यह है कि इस दौर का उपन्यासकार अपनी कथा के हिसाब से भाषा के चयन को लेकर काफी सतर्क रहा है। भाषा को लेकर जो विभिन्न रूप हमें इस युग में दिखाई देते हैं, वे वास्तव में कथ्य के दबाव में चले आये हैं। यहाँ हमें याद रखना चाहिए कि उपन्यास की भाषा की तत्समता या देसीपन, आँचलिकता का संबंध प्रयोग से न होकर कथा की जरूरत से रहा है और कथाकार ने इसका ख्याल रखा है। इस दौर में भाषाओं के कई रंग देखने को मिलते हैं। एक तरु प्रेमचंद से विरासत में मिली हिंदुस्तानी का असर है, तो दूसरी ओर अज्ञेय के आधुनिकतावादी उपन्यासों में भाषा अभिजात्य की ओर मुड़ती दिखती है, जिसमें हिन्दी के साथ अंग्रेजी का इस्तेमाल तो है, ही एक विशिश्ट किस्म की नफासत भी है। उधर नयी कहानी आंदोलन से जुड़े लेखकों ने अपने उपन्यासों में रोजमर्रा की शहरी भाषा को उतारने की कोशिश की है। इस दौर में भाषा का एक अन्य ही स्तर आँचलिक उपन्यासों में देखने को मिलता है, जिसका प्रतिमान 'मैला आँचल' है। वास्तव में किसी उपन्यास की भाषा से यह अपेक्षा की जाती है कि वह एक साथ कई स्तरों वाली यानी बहुस्तरीय हो। लेकिन, वैचारिक उपन्यासों में चूंकि लेखक भाषा पर नियंत्रण रखता है इसलिए भाषा का वैसा स्वरूप दिखाई नहीं देता। यही, काफी हद तक आँचलिक उपन्यासों के साथ भी होता दिखता है, जिनमें भाषा आँचलिक सीमा में सिमटी दिखाई देती है। फिर भी इस दौर के उपन्यासों की भाषा विविधावर्णी है, जो कि स्वाभाविक ही है।

✧ ✧ ✧

युवा आलोचक एवं अनुवादक श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली वि.वि.
मो. : 9953103146

# भूमिअधिग्रहण की समस्याएं और गांव का उत्तर-यथार्थ

राजकुमार

**सूर्यनाथ सिंह की पहली कहानी 'नचनिया राजा' है और दूसरी 'ठठेरे की मशीन'। दोनों कहानी की शुरुआत परंपरागत शैली में है। लेकिन सूर्यनाथ सिंह इस शिल्प से शुरू करके अंत वैसे नहीं करते हैं जैसे पौराणिक कहानियों या प्रेमचंद के यहां होता है। बल्कि शिल्प के इस रूप को ध्वस्त करते हैं। अंत काफी हद तक पोस्टमॉडर्न स्टाइल में होता है। कहानी कोई निष्कर्ष नहीं सुनाता।**

गांवों एक पाठक के तौर पर मैं सूर्यनाथ जी की बाल कहानियों का पाठक पहले बना। पहले पहल मैंने एक बाल कहानी पढ़ी। बहुत बाद में जब सूर्यनाथ जी से परिचय हुआ तो मैंने इस बात का जिक्र किया। उन्होंने जो बताया वह पहले कहानी संग्रह 'कुछ रंग बेनूर' की भूमिका में भी है। यही कि रोजगार की तलाश में एक संपादक से मिले तो उन्होंने बाल कहानी की मांग की। यह मुश्किल काम था। क्योंकि साहित्यिक अनुराग के कारण कविताएं लिखी थी। लेकिन कहानी लेखन से दूर तक वास्ता नहीं था। चूंकि नौकरी की संभावनाएं बाल कहानियों के रास्ते निकल रही थी तो हाथ आजमाया। चोरी की कहानी। फेरफार करके दिया। छप गयी। यहीं से कहानी लिखने का सिलसिला बना।

मैंने सूर्यनाथ सिंह की बाल कहानियों का संग्रह 'शेर सिंह को मिली कहानी', 'तोड़ी कसम फिर से खाई' और सायंस फिक्शन के रूप में 'बर्फ के आदमी' और 'बिजली के खंभों जैसे लोग' को पढ़ा। जाहिर है, सूर्यनाथ सिंह की कहानी कहने की कला का परिचय इन बाल कहानियों के माधयम से हुआ।

इस बात को याद करने का अवसर इसलिए है कि जब हम सूर्यनाथ सिंह की कहानियों की चर्चा करते हैं तो हमें शुरुआती दो कहानी ऐसी मिलती है जिसके शिल्प पर बाल कहानियों के शिल्प का गहरा दबाव है।

पहली कहानी 'नचनिया राजा' है और दूसरी 'ठठेरे की मशीन'। दोनों कहानियों के शिल्प का संबंध पौराणिक कहानियों की परंपरा से है। यानी पंचतंत्र, हितोपदेश और उपनिषद कथाओं वाली। आधुनिक काल में इस स्टाइल के बड़े और महान लेखक प्रेमचंद हैं। जैसा कि पुरानी कहानियों में होता था एक राजा था। उसकी एक रानी थी। ... स्टाइल वाली। सूर्यनाथ की कहानियों में एक कथावाचक होता है जो कहानियां सुनाता है। श्रोता की भूमिका और मुद्रा हूं, हां या टोका टोकी या प्रश्नकर्त्ता वाली या फिर क्या हुआ... वाली स्टाइल का। यह कहानी कहने का भले ही पुराना और लोक परंपराओं वाला फॉर्मेट है लेकिन है बेहद ही प्रभावशाली और ताकतवर। पाठक एक बार कहानी के भीतर धंसता है तो धंसता ही चला जाता है।

'नचनिया राजा' कहानी की शुरुआत देखें

'तो लो सुनो! ई कहानी है एक राजा की। ऐसे राजा की जो पहिले नचनिया था और बाद में बन गया राजा।

नचनिया था फिर राजा बन गया? तो फिर ई काहे न कहते कि ई कहानी है एक नचनिया की'?

'अरे बुरबक, जब ऊ राजा बन गया तो राजा हो गया न?

अब जरा 'ठठेरे की मशीन' की पहली लाइन देखें

'लो सुनो, आज एक नई कहानी सुनाता हूं। कहानी है, एक मसीन की'।

हूं, चलो सुनाओ'।

'पुरानी बात है। एक ठठेरा था, बहुधंधी था'।....

सूर्यनाथ सिंह की पहली कहानी 'नचनिया राजा' है और दूसरी 'ठठेरे की मशीन'। दोनों कहानी की शुरुआत परंपरागत शैली में है। लेकिन सूर्यनाथ सिंह इस शिल्प से शुरू करके अंत वैसे नहीं करते हैं जैसे पौराणिक कहानियों या प्रेमचंद के यहां होता है। बल्कि शिल्प के इस रूप को ध्वस्त करते हैं। अंत काफी हद तक पोस्टमॉडर्न स्टाइल में होता है। कहानी कोई निष्कर्ष नहीं सुनाता। कोई वैल्यू जजमेंट नहीं है। जहां कहानी का अंत होता है, वहीं से पाठक के मन में एक नयी कहानी जन्म लेने लगती है। यानी वह पाठकों को पाठ के अर्थग्रहण के लिए आजाद करता है। आजकल अंग्रेजी आलोचना में देखने को मिल रहा है कि आलोचक रचना प्रक्रिया के संदर्भ में बात कर रहा है। वह पाठ का कोई अंतिम निष्कर्ष नहीं दे रहा। निष्कर्षवादी आलोचना का अंत हो गया है। यह पद्धति पश्चिम में आधुनिक आलोचना के साथ समाप्त हो गयी। यहां कहानी में हम इन्हीं चीजों को देख पा रहे हैं। यह पौराणिक शिल्प से या कथा की प्राचीन परंपरागत शिल्प से अलग हो जाने की कोशिश है। यही चीज सूर्यनाथ सिंह के कहानी के शिल्प की खास विशेषताएं हैं। उत्तर-आधुनिक विमर्श में पाठ की अनंतता की बात होती ही है। सूर्यनाथ सिंह का 'कथांतशिल्प' इसमें मददगार है।

इन दोनों ही कहानियों में कथावाचक कहानी सुना रहा है। श्रोता जो कि कहानी का पहला भोक्ता या पाठक है - कहानी के निष्कर्ष के बारे में जानना चाहता है और कथावाचक

कहता है  समझ में आये तो हमें भी बताना या ऊपरवाला जाने। यह पंपरागत शिल्प को स्थगित कर आगे निकलने की कोशिश है। या कहें शिल्प में यह रद्दोबदल ही कहानी के नैरेशन को ताकत पहुंचाती है और अंत को टाइम एंड स्पेश में फैलाने की कोशिश है। जहां कहानी खत्म होती है, पाठक के मन में कहानी वहां से फिर जन्म ले रही है। सैद्धांतिक रूप से विद्वान इसे डायजेसिस कहते हैं।

कथावाचक भी कई तरह के होते हैं। यहां माणिक मुल्ला की तरह का कथावाचक नहीं है। वह कहानियां सुनाता हुआ खुद किरदार (होमोडायजेटिक) बन जाता है। सूर्यनाथ सिंह ने जो कथावाचक गढ़ा है वह मुझे हेट्रोडायजेटिक किस्म का लगता है। जो खुद अपने नाक के नीचे घटनाओं को होते देख रहा है।

सूर्यनाथ सिंह के संग्रह में कुल जमा 13 कहानियां हैं। 'कुछ रंग बेनूर' में 7 कहानियां और 'धधक धुंआ धुंआ' में 6 कहानियां। एक 'चलती चाकी' उपन्यास। इनमें 9 कहानियां सीधे गांवों से जुड़ी है। वे मूलत: गांव के कथाकार हैं। लेकिन सूर्यनाथ सिंह की कहानियाँ गाँव की होकर भी प्रेमचंद, रेणु, राही मासूम रजा, श्रीलाल शुक्ल, आदि की कहानियों से भिन्न है। काफी हद तक संजीव, शैवाल या सत्यनारायण पटेल आदि की कहानियों से भी भिन्न।

'कुछ रंग बेनूर' में पहली कहानी 'ठठेरे की मशीन' है और अंतिम कहानी 'नचनिया राजा'। मुझे संग्रह में कहानियों का यह क्रम समझने में थोड़ी मुश्किल हुई। दोनों कहानी को प्रकाशन क्रम से रखा जाना बेहतर होता। 'नचनिया राजा' भारतीय राजनीति और तानाशाही के हास्यास्पद विद्रूप चेहरे का मेटा फर है तो 'ठठेरे की मशीन' क्रोनी कैपटल्ज्म के क्रूरता के मेटा फर। नचनिया राजा कहानी को पढ़ मुझे शैवाल की कहानी लाटोबाबू का नाचघर की याद आती रही। गांव का एक नाचने-गाने वाला लड़का एक दिन अपने नाच-गान से राजा को खुश कर देता है और उसका विश्वस्त बन जाता है। राजा की बेटी से प्रेम करता है और एक दिन राजा बन जाता है। फिर शुरू होते हैं उसके उल-जुलूल हुक्म। पूरे राज्य को हास्यास्पद किस्म के नाचगर में बदल देता है। चापलूसी, मक्कारी, धूर्तता से राज्य भिनभिना उठता है। हुक्म उदूली करने वाले की जगह राज्य में खत्म हो जाती है। राज्य में या तो चापलूस रह सकते हैं या आदेशों को सिर पर उठाये चाकर। वह एक ऐसे तानाशाह राजा के रूप में उभरता है कि पूरा राज्य या तो उसके भय से कांपता है या झूकता है। यह रुपक हमारी पूरी राजनीतिक व्यवस्था की बखिया उघेर देती है। लोककथाओं में हमारे समय की राजनीति प्रदीप्त होती है।

दूसरी कहानी एक ठठेरे की है जो गली-गली हींग बेचते हुए एक दिन बहुत बड़ी कैपिटिलिस्ट बन जाता है। बहुत बड़ी मल्टीनेशनल कंपनी का मालिक बनता है। वह जैसे  जैसे अपने बिजनेस एम्पायर को बड़ा करता जाता है वैसे-वैसे देश और समाज के लिए आततायी और बर्बर बनता जाता है। मुझे लगता है कि इन दोनों कहानियों का क्रम प्रकाशन क्रम के साथ ही होना चाहिए था। उसमें मुझे संगति दिखाई देती है। राजनीतिक व्यवस्था का धवस्तीकरण, चारित्रिक नैतिक पतन, चापलूसी, तानाशाही और फिर देश में राजनीति, नौकरशाही और पूंजीपतियों के

सांठ-गांठ से वित पूंजीवाद का उदय। लेकिन यह लेखक की अपनी पसंद है कि वे उसे किस क्रम में रखते हैं। संभव है इसके पीछे कथाकार की अपनी कोई तार्किक दृष्टि हो।

ठठेरे की मशीन अपने छोटे-छोटे आख्यानों से महाआख्यान रचने वाली कथा है। यह कथा पूंजीवाद के साभ्यतिक विकास को अपने-अपने छोटे-छोटे शॉट्स में दिखाती चलती है। इस में ठठेरे के कारपोरेटी बनने की कथा गुथती रहती है। जैसे-जैसे उसका बिजनेस बढ़ता है उसके बिजनेस, उत्पाद और मशीनों में बदलाव आता जाता है। सबसे पहले वह गली-गली घूम-घूमकर हींग बेचता है फिर मवेशी। उसके बाद स्टील के बर्तन। फिर कपड़े के धंधो में उतरता है। ठठेरा हींग से मशीन की दुनिया में प्रवेश करता है। एक दिन मशीन का साम्राज्य कायम होता है लोगों की जरुरतें नगण्य होने लगती है। बेरोजगारों की फौज खड़ी होती जाती है और फिर टकराव व संघर्ष शुरू होते हैं। तब तक ठठेरा इतना ताकतवर कारपोरेटी बन जाता है कि उसके इशारे पर सत्ता और प्रशासन जनता पर जूल्म करने से नहीं हिचकते। वह राजनीति को चाकर बना लेता है। यह आख्यान पूंजी, बाजार, सत्ता के गठजोड़ का ऐसा महावृत्तांत हमारे सामने रखता है कि हमारे समय का यथार्थ हरहरा के खुलता है।

जिस तरह के गांव सूर्यनाथ सिंह अपनी कहानियों में कंस्ट्रक्ट करते हैं वे हमारी स्मृतियों में नहीं हैं। बल्कि हमारी स्मृतियों में कंस्ट्रक्टेड गांव काफी हद तक सुन्दर हैं। हमारे मन में बचपन के गांव हैं। उसी की स्मृतियां, काफी हद तक हमलोगों के जेहन में है। जिन गांवों के अक्स हमारे मन में टंगे हैं वे जातिगत समस्याएं, भेदभाव, गोलबंदी, हिंसा, पिछड़ापन, गरीबी आदि से ग्रस्त हैं। फिर भी कुछ अच्छाइयों को समेटे हैं। कथाकार की स्मृतियों में भी ऐसे गांव ही हैं। लेकिन आज के गांव का यथार्थ काफी बदला हुआ है। जब इस कंस्ट्रक्टेड यथार्थ का टकराव स्मृतियों में कंस्ट्रक्टेड आइडियल यथार्थ से होता है तब उसके स्पार्क से सूर्यनाथ सिंह की कहानी बनती है।

सूर्यनाथ सिंह जिन गांवों को कंस्ट्रक्ट करते हैं वे हमारी स्मृतियों में तोड़फोड़ मचाते हुए घुसते हैं। हाहाकार करते हुए। जैसे बाढ़ का पानी गांव में घुसा और सब बहाकर ले गया। या तो गांव का पूरा भूगोल बदल रहा है या नक्शे पर गांव पहचान में नहीं आ रहा या नक्शे से गांव ही गायब हो रहा। यानी गांवों की त्रासदी सूर्यनाथ की कहानियों में है। विकास के नाम पर तेजी से भूमि अधिग्रहण हो रहा और गांवों में कल कारखाने लगाये जा रहे हैं। गांव गांव नहीं रहा बल्कि सूर्यनाथ सिंह के शब्दों 'इंडस्ट्रियल विलेज' बन रहा है।

जिस तरह से गांव में हाइवे बन रहा। रेस्तरां खुल रहा। मॉल बन रहा। स्मार्ट फोन, मीडिया और तकनीक की सेंधमारी हो रही उसे 'ग्लोबल विलेज' कहें तो बेहतर है लेकिन सूर्यनाथ सिंह उसे 'इंडस्ट्रियल विलेज' कहना पसंद करते हैं। इंडस्ट्रियल विलेज प्रेमचंद के उपन्यास रंगभूमि में है।

सूर्यनाथ सिंह रचित इस गांव पर क्रोनी कैपिटलिज्म का हमला हुआ है। ब्लैक मनी और आवारा पूंजी की गिरफ्त में ये गांव हैं। यह हिन्दुस्तान के गांवों का उत्तर - यथार्थ है। अगर हिन्दुस्तान का न भी मानें तो हिन्दी पट्टी समाज का 'उत्तर यथार्थ' तो है ही। इन ग्रामीण कहानियों

की संगति प्रेमचंद का उपन्यास 'रंगभूमि' में है। औपनिवेशिक दौर में पूंजीवाद, राजनीति और नौकरशाही का तेज और स्पष्ट हमला वहीं दिखाई पड़ता है। गांव में तम्बाकू का कारखाना लगाने के लिए सूरदास के पांच बीघे जमीन को हड़पने की साजिश रची जाती है। लाभ, लोभ, लालच, धमकी से लेकर हत्या तक के षडयंत्र वहां दिखते हैं। सूर्यनाथ सिंह के गांवों के यथार्थ भयावह है। अब आप 'जो है सो', 'देवता घर गये', 'धधक धुंआ धुंआ' और 'परवाज' कहानी को उसकी अगली कड़ी के रूप में पढ़ सकते हैं। प्रेमचंद की परंपरा के कथाकार के रूप में सूर्यनाथ सिंह को देखा जा सकता है। वे कथाभूमि को प्रेमचंद से आगे खींचकर ले जाते हैं।

समकालीन कहानियों में ग्रामीण पृष्टभूमि पर जो भी कहानियां लिखी गयी हैं उसमें जातिय उत्पीड़न, हिंसा, गोलबंदी, सामंती जमींदारी मानसिकता के तहत हिंसा, बलात्कार और शोषण के रूप गहरे होते हुए भी ठहरे से लगते हैं। सवर्णों द्वारा दलित पिछड़ी जातियों पर या पिछड़ी जातियों द्वारा दलितों के शोषण की कहानियां मिलती हैं। या इनके बीच के टकराव की कहानियां हैं। जबकि सूर्यनाथ सिंह की कहानियां भूमि अधिग्रहण को लेकर है। समकालीन कथाकारों में सूर्यनाथ संभवत: अकेले कथाकार हैं जिन्होंने भूमि अधिाग्रहण को बड़ी ही शिद्दत से कथा के केन्द्र में रखा है। जो है सो, धधक धुंआ धुंआ, परवाज, देवता घर गए आदि कहानियां भूमि अधिग्रहण से जुड़ी है। विकास के नाम पर जिस तरह गांवों को रौंदा जा रहा है, किसानों की जमीनें हड़पी जा रही है, लोगों को विस्थापित किया जा रहा है, चौतरफा लूट और भ्रष्टाचार मची है, किसानों के जीवन को रौंद कर समतल किया जा रहा है उसके आयाम सूर्यनाथ सिंह की कहानियों में है।

गांवों के ये बदले चेहरे मनमोहनोमिक्स की देन हैं। पिछले पच्चीस वर्षों में आर्थिक उदारीकरण के बाद, विकास की जो तेज आंधी बहायी गयी उसका असर शहर और गांव दोनों पर पड़ा। कारपोरेट घरानों ने राजनीति और नौकरशाही के साथ याराना कर गांव, खेत-खलिहान, पहाड़, नदी जंगल सब हड़पने लगे। और हड़पें भी क्यों नहीं। हमारी जीडीपी की लगभग साढ़े तीन फीसदी तो क्रोनी कैपिटल ही है। जंगल, नदी, पहाड़, खेत खलिहान सबको उपभोक्ता सामग्री, उत्पाद में बदल देने का ऐसा षडयंत्र हुआ कि पूरी ग्रामीण संस्कृति धवस्त नजर आती है। आधारभूत संरचनाओं के निर्माण और उद्योग लगाए जाने के बहाने खेती की जमीनें याराना पूंजी के मालिकों के हाथों में सरकने लगी। मॉल संस्कृति शहरों से गांवों तक फैलने लगी। गांव, शहर में बदलते दिख रहे हैं। अर्बन विलेज और रुरल विलेज का फर्क समाप्त्राय हैं।

'जो है सो' की पहली पंक्ति यूं शुरू होती है 'एक्सप्रेस वे, बिजली परियोजना और बिजनेस सेंटर खुलने की खबर आयी तो साढ़े आठ गांवों के आधे से कुछ अधिक चेहरे खिल उठे'। यानी कहानी संग्रह अपनी पहली पंक्ति में स्पष्ट कर देता है कि गांव किस दिशा में आगे बढ़ रहा है। यह पंक्ति सिर्फ सूचना भर नहीं है। टीवी चौनलों और अखबारों की सुर्खियों से दूर एक परिघटना है। ठीक वैसे ही जैसे रेणु सृजित गांव में पेट्रोमेक्स का पहुंचना एक बड़ी घटना थी। उस पेट्रोमेक्स के साथ ही गांव की राजनीति बदलने लगती है। गांव के सामाजिक ताने-बाने के रेशे आपस में उलझने लगते हैं। सूर्यनाथ सिंह सृजित गांव में बिजली परियोजनाओं का पहुंचना और

बिजनेस सेंटर का खुलना कोई सामान्य घटना नहीं है। बल्कि इन योजनाओं के माधयम से पूंजीपतियों, कारपोरेट घरानों, ठेकेदारों, दलालों और नेताओं के पहुंचने की खबर है। उन सरकारी नीतियों के पहुंचने की खबर है जो बदलाव और विकास के नाम पर भूमि अधिग्रहण को अंजाम दे रही हैं और किसानों के ऊपर बिजनेसमैन को तरजीह दे रही है। नयी पीढ़ी के बेरोजगारों के मन में उम्मीद जगा रही है कि जमीन अधिग्रहण से मिलनेवाले मुआवजे की रकम से उनकी किस्मत चमक जायेगी। गांवों में शहरों की सी रौनक होगी। गांवों का विकास होगा। लोगों की जीवनशैली बदल जायेगी। चारों तरफ खुशहाली होगी। इसलिए 'गांवों के आधे से कुछ अधिक चेहरे खिल उठे'।

यह नया यथार्थ है। तमाम सहमतियों असहमतियों के बीच मैं यह कहना चाहूंगा कि यही 21वीं सदी के दो दशकों का 'उत्तर-यथार्थ' है।

इन पंक्तियों में छिपे मुहावरे को विखंडित करें तो एक बड़े सपने के पहुंचने की खबर भी मिलेगी। 'हाई एक्सप्रेस-वे बनेगा तो मजा हो जाएगा बन्धु। अपनी गाड़ी में बैठे, यहां से चार घंटे में दिल्ली। सुबह जाओ, दिन भर काम करो, रात तक घर वापस'।

'अरे खाली एक्सप्रेस-वे नहीं, बुलेट ट्रेन की लाइन भी इधरे से निकालने की बात है। ससुर, बलिया से दिल्ली साढ़े चार घंटा में। ... काहें ट्रेन से जाएंगे बे। अपनी गाड़ी में जाएंगे। खरीदेंगे कोई फस्सकलास गाड़ी, होंडा सीआरवी, पजेरो, फोर्ड एंडेवर, टोयटा फरचूनर जैसी। एक्सप्रेस-वे पर भगाओ साली को दू सौ, ढाई सौ की स्पीड में, कौनो चलान थोड़े कटेगा'।

कहना न होगा, गांव के युवाओं में इस बदलाव को लेकर उम्मीदें हैं। लेकिन बुढ़े-बुजुर्गों में खौफ। बुढ़े-बुजुर्गों और किसानों को लगता है यह विकास नहीं विनाश है। विनाशलीला।

सूर्यनाथ सिंह गांव का विभाजन दो अलग वर्गों के रूप में करते हैं। नौजवानों और बुजुर्गों के बीच। यह विभाजन नया है। वर्गीय विभाजन की हमारी समझ से अलग है। युवा वर्ग कुछ हद तक परजीवी है। सफलता की सीढ़ियां जल्दी और शॉर्टकट और बगैर मेहनत से चढ़ जाना चाहता है। जैसे तैसे सफल हो जाना ही मूलमंत्र है। उनके सामाजिक संरचना और जीवन व परिवेश में जिस तरह के नवधानाढय वर्ग पनपा है वे उसी को फॉलो कर रहे हैं। दोनों वर्गों के बीच विकास, पिछड़ेपन व भविष्य को लेकर जो तर्क-वितर्क चलते हैं उसमें नवहे जीतते हैं। दरअसल नयी पीढ़ी जिन्दगी अंधेरे में है। खेती उनके लिए घाटे का सौदा है। वे इस पेशे में उतरना नहीं चाहते। और जिन्दगी भी संवारना चाहते हैं। वे अपने ठोस तर्कों से बुजुर्गों को परास्त कर देते हैं। वे भूमि अधिग्रहण को वरदान की तरह लेते हैं। जबकि बुजुर्ग पीढ़ी जिसके लिए कृषि और किसानी एक संस्कृति है, उसे छोड़ना नहीं चाहती है। वे खेतों और गांवों से भावनात्मक रूप से जुड़े हैं। अनुभव और तर्क उनके पास भी है लेकिन वे अपने बच्चों के भविष्य के सामने अपने तर्कों की पोटली को बांधकर किनारे कर देते हैं।

नयी पीढ़ी जिसके पास मुआवजे से मिली रकम के लिए कोई व्यवस्थित योजनाएं नहीं थी। पैसे का निवेश कहां किया जाए, इस बात की समझ और दृष्टि नहीं थी, वे पैसे का गलत

इस्तेमाल करने लगे। जिनके पास मोटरसाइकिल थी वे कार में घुमने लगे, जो छोटी कारों में चलते थे वे बड़ी बड़ी गाड़ियों में घुमने लगे। प्रोपर्टी डीलिंग नया धंधा बन आया। लोग ठेकेदार होने लगे। लोगों के हाथों में मोबाइल की घंटियां बजने लगी। चमचा बनाने और पालने का धंधा तेजी से फलने-फुलने लगा। जिनकी जमीन का अधिग्रहण नहीं हुआ वे मायूस थे। लेकिन उनके पास खुश होने के अपने तर्क थे। सूर्यनाथ सिंह ने भूमि अधिग्रहण के बहाने गांव और गांव के लोगों की मानसिकता का बेहतरीन चित्रण किया है। पैसे के पीछे लोग धड़ल्ले से जमीन बेचने लग जाते हैं। खेती उन्हें घाटे का सौदा प्रतीत होता है। गांव को 'शहरी गांव' में तब्दील होने की तस्वीरों को अपने वृत्तांतो में बुना है तथा उन सामाजिक नियमों को भी तोड़ा है जिसमें खास पेशे के लिए खास जातियां निर्धारित थी। अमरजीत ब्राह्मण होकर रेस्तरां खोलता है तो गांव में कई तरह की बातें की जाती है। जूठा मांजने के धंधो से जोड़ उसके ब्राह्मणत्व के लिए कोसा जाता है। लेकिन होटल मैनेजमेंट की पढ़ाई के बाद बेरोजगार अमरजीत पैसे के अभाव में खेती का काम देखता था। मुआवजे की रकम का उसने उपयोग किया और रेस्तरां के धंधो को चमकाया। लेकिन नेताओं और व्यापारियों की नजर उसके रेस्तरां पर गड़ गई। उसे बेचने के लिए बाध्य किया। नहीं बेचने की स्थिति में उसे गाड़ी से कुचल दिया गया। चूंकि उसकी हत्या राजनीतिक हत्या थी इसलिए न पुलिस सामने आयी न अन्य लोग। तब तक गांव के लोगों ने भी समझ लिया था कि उद्योग लगाने के नाम जिन जमीनों का अधिग्रहण हुआ है उसे कम दाम पर खरीदकर पूंजीपतियों और नेताओं के हाथ बेच दिया गया। किसानों को लूटा गया। जिन जमीनों का अधिग्रहण नहीं हुआ था उधार की जमीनों को कंपनियों ने सरकारी रेट से दुगुने पैसे पर खरीद ली। लोगों ने 'आलू-प्याज-भिंडी' की तरह जमीनें बेच दी। इस तरह इन जमीनों पर नेताओं और पूंजीपतियों का कब्जा हो गया।

सूर्यनाथ सिंह की यह कहानी हिन्दुस्तानी समाज की हकीकत है। प्रोपर्टी डीलरों, नेताओं, पूंजीपतियों, बिल्डरों की मिलीभगत ने न सिर्फ गांवों को उजड़ा दिया बल्कि नयी पीढ़ी के लोगों के सामने अंधेरे का साम्राज्य खड़ा कर दिया है। उस अंधेरे के बाहर या तो लालच, ईष्या, ठगी और लूट का धंधा है या बेकारी का हुजूम।

दिल्ली और दिल्ली ही क्यूं ? हर छोटे बड़े शहरों से सटे इलाकों की स्थिति देख लें। लोग जमीन बेचकर या तो दलाली कर रहे हैं, प्रोपर्टी डीलर हो गये हैं।

सूर्यनाथ सिंह अपनी कहानियों के संदर्भ में मानते हैं कि 'गांव एक है'। चरित्रों के चेहरे और घटनाएं अलग-अलग हैं। मुझे लगता है कि घटनाएं और चरित्र बदलने से 'गांव' वही नहीं रह जाते। कहानी में भाषा और परिवेश की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। परिवेश अपनी पूरी देहयष्टि के साथ उपस्थित होता है। 'जो है सो', 'परवाज', ट्रिकल डाउन', धधक धुआं धुआं' या 'देवता घर गये', के परिवेश में अंतर है। ये परिवेश ही है जो यूपी, बिहार, मधयप्रदेश या दिल्ली के गांवों की कथा कहता नजर आता है। लगता है पूरी हिन्दी पट्टी समाज बदलाव के एक ही तरीके से गुजर रहा है। मुझे यह वृत्तीय रूप में नजर आती है। चारों तरफ 'विकास के एकरुपीकरण का साम्राज्य' खड़ा किया जा रहा है।

जिस तरह की बर्बर, असंवेदनशील और घटनाओं का वर्णन परवाज कहानी में मिलता है उसकी कल्पना 'रुरल विलेज' में संभव नहीं है। एअरपोर्ट के नजदीकी गांव शाहाबाद को हिन्दुस्तान के नक्शे से बेदखल कर दें यह कहकर कि यह आतंकियों की शरणगाह बन सकती है या जहाज बेकाबू होकर मानवीय त्रासदी रच सकते हैं। यह 'अर्बन विलेज' में संभव है। सौंदर्यीकरण के नाम पर रिक्शे, ठेले, खोमचों या साप्ताहिक बाजार लगाने वालों को शहरों से बाहर खदेड़ देना, मलीन बस्तियों को उजा देना जैसी त्रासद स्थिति 'परवाज' कहानी में संभव है लेकिन 'मंडन मिसिर की खुरपी' या 'धधक धुंआ धुंआ' में संभव नहीं है। मुझे ये सब अलग-अलग गांव लगते हैं। हां विकास के नाम पर लूटने और उजाड़ने की प्रक्रिया में एकरुपीकरण लगता है। मुझे लगता है कि पंजाब, महाराष्ट्र या दक्षिण भारतीय गांवों की कल्पना के साथ कहानी रची जायेगी तो उसकी कथावस्तु में और अंतर उपस्थित होंगे। इन कहानियों में हम किसानों की आत्महत्याओं के मुखर रूप तक नहीं पहुंचे हैं। केवल परवाज कहानी ही इस तरफ संकेत करती नजर आती है कि रेहड़ी पटरी की दुकानदारी उजड़ने के बाद प्रोपर्टी के धंधो में शामिल अनिरुद्ध कर्ज और लोन के चक्रव्यूह में फंसकर या तो आत्महत्या कर लिया या शहर छोड़कर गुमनाम जगह भाग गया। गांव से उजड़ जाने या पलायन कर जाने के दास्तान अन्य कहानियों में है। परवाज को 'अर्बन सबाल्टर्न' कहानी के रूप में पहचान की जा सकती है।

कुछ रंग बेनूर संग्रह में भले ही लेखक ने शिल्प प्रयोग से बचने की कोशिश की है। लेकिन दूसरे संग्रह में यह कोशिश है, कोशिश भर है। आत्मवृत शैली से शुरू होकर कहानी शिल्प के पुराने पैटर्न को ही पकड़ती है। शिल्प के स्तर पर प्रयोगधर्मी लेखक नहीं कह सकते।

'ट्रिकल डाउन' अर्थशास्त्र की सैद्धांतिकी समझाने वाली कहानी नहीं है। कहानी के नाम में भले ही सिद्धांत की बू आती हो। उस सिद्धांत की मनमानी व्याख्या पात्र कैसे अपने पक्ष में करता है और अपनी दलीलों से अपने भष्ट, अनैतिक आचरण और लूट-खसोट को न्यायसंगत और उचित ठहराता है यह उसकी मिसाल है। यह नौकरशाहों और राजनीतिज्ञों के पूंजीपतियों के साथ लेन-देन के संबंधों को 'ट्रिकल डाउन' के मेटाफर में समझाने की कोशिश है। वह एक विशाल टंकी के उदाहरण देता है। यह विशाल टंकी पूंजीपतियों की है जिसमें नौकरशाह और नेता अपनी पाइप घुसेड़ कर पानी खींच लेते हैं। उदाहरण देखें - 'लेकिन जानते हैं भइया, अपने देश में ट्रिकल डाउन की रफ्तार बहुत धीमी है। जिनके पास पैसा है, उन्होंने इतनी मजबूत काली टंकियां बना रखी हैं कि उनमें से कुछ टपकता ही नहीं। टपकता भी है तो बहुत धीरे-धीरे। कटोरा लेके खड़ा रहो, पता नहीं साल भर में भरेगा कि दो साल में, कह नहीं सकते। इसलिए मैं तो इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि उन टंकियों में छेद करके अपनी टोंटी लगाने का कौशल विकसित करो। जब इच्छा हो, खोल के पूरी धार के साथ कटोरा भर लो।... लोगों ने लगा रखी हैं अपनी टोटियां। तमाम नौकरशाहों, नेताओं और बाबाओं ने पैसे वालों की टंकियों में अपनी- अपनी टोंटियां लगा रखी हैं।... ये भी एक तरह का ट्रिकल डाउन है'।

इस कहानी का पात्र छुटकन नेताओं और नौकरशाहों से सांठ-गांठ से उस टंकी में अपनी पाइप फिट करने में सफल हो जाता है। लेकिन कहानी का असल क्रक्स यह है कि वह जिन संबंधों

और मानवीय दुनिया में जीता है वहां बेहद चालाकी से पेश आता है। उन संबंधों को अपने लिए सेफ्टीवाल्व की तरह इस्तेमाल करना चाहता है। दो नं. से कमाये पैसे को इंजीनियरिंग कॉलेज खोलने में लगाता है और चाहता है कि उसका डायरेक्टर ईमानदार व्यक्ति हो। इसलिए अपने गांव के इंजीनियर जिसे भैया कहता है  जिनसे अच्छे पारिवारिक रिश्ते हैं उनका इस्तेमाल करना चाहता है। एक आदर्शवादी और ईमानदार व्यक्ति के चरित्र को कैसे पतन की ओर ढकेला जाए यह वह बखूबी समझता है। हमारी आसपास की दुनिया लोगों के भ्रष्ट तरीके, व्यवहार और तरक्की से किस हद तक प्रभावित हो रही है, वह किस हद तक हमारे नैतिक संयम को लालच की गुफाओं की ओर खींचे ले जा रही है  यह कथात्मक प्रक्रिया में शामिल पाते हैं।

यह कहानी आदर्शवादी, वामपंथी, देश-दुनिया को बदल देनेवाले व्यक्ति में आए चारित्रिक पतन को भी दिखाती है। शिक्षा मंत्रलय से कई तरह के फंड उगाही कर एनजीओ चलाने, प्राइवेट स्कूलों में प्रिंसिपलस और मैनेजमेंट से मिलकर एडमिशन कराने का गोरखधंधा भी  ऐसा व्यक्ति करता है जिसपर वामपंथी होने का तगमा है। जो सेमिनारों में शोषण और अत्याचार के खिलाफ क्रांतिकारी भाषण झाड़ता है। बड़ी-बड़ी गोष्ठियों में काव्यपाठ करता फिरता है। उसके जीवन के कुछ आदर्श हैं, जिसे पूरा करने के मिशन से घर से निकला है। समाज को बदलने के संकल्प लेकर। गरीबों-पिछड़ों का हितैषी है। सामाजिक विसंगतियों के खिलाफ आवाज उठाने वाला वही छुटकन भ्रष्टाचार, दलाली, घुसखोरी में आकंठ डूबा नजर आता है। मक्कारी, लालच और धूर्तता उसके व्यक्तित्व के एक पहलू हैं। वह पैसे कमाने और सफल होने के तरीके जानता है और उसी रास्ते आगे बढ़ता है।

तकनीकी दृष्टि से 'देवता घर गए' कहानी फिल्मी अंदाज में शुरू होती है। घटनाएं घट चुकी है। बैंगा हवालात में बैठा है। उसके बेटे की पत्नी ललमुनिया मोटी सलाखों वाली खिड़की से बाहर झांक रही है। वह फ्लैशबैक में अपनी जिंदगी को टटोलता है। जिसमें वह अपने गांव और परिवार को उजड़ते हुए पाता है।

लेखक ने इस कहानी में समाज के सबसे निचले पायदान पर खड़े बेजमीन मुसहर जाति और समुदाय की विडम्बनाओं को दिखाने की कोशिश की है। जंगलों में रहने वाले मुसहर जमाने के बदलने के साथ खुद को बदलने के लिए बाध्य होते चले गए। उन्होंने कभी भी अपने जंगल और जमीन के लिए लड़ाई नहीं की। लेकिन जब जंगल कट गए, जमीनों की बंदोबस्ती हो गयी तो वे भूमिहीन हो गए। वनवासी जीवन से निकल खेतीहर समाज के हिस्से हो गए। दूसरों की जमीन पर खेती कर जीवनयापन करने लगे। श्रम के बदले मिले जमीन पर गुजर बसर करने लगे।

यह कहानी भी विकास और भूमि अधिग्रहण, शहरीकरण और उससे ऊपजी समस्याओं पर है। लेकिन यह दूसरे सवाल भी उठाती है। मसलन यह कि पढ़ी-लिखी नयी पीढ़ी शहरों में आकर बदल रही है। वे अपनी नयी पहचान और अस्मिता बनाना चाहते हैं। अपनी उन अस्मिताओं, पहचानों या नामों को शहर की भीड़ या नये शहरी सामाजिक संबंधों के बीच छुपा लेना चाहते हैं जिससे वे सामाजिक दुनिया में लांक्षित या अपमानित या निचले पायदान पर खड़े नजर आएं। अपने

उन पारिवारिक संबंधों या सामाजिक संबंधों को पीछे छोड़ देना चाहते हैं जिनसे पिछड़ा समझे जाएं। जिन्दगी और व्यवहार में यह बदलाव तीखे मोड़ पर है जो सामाजिक संबंधों और रिश्तों के ताने-बाने को तोड़ रही है। पढ़ा-लिखा, नौकरी से जुड़ा ऐंचा अपने मुसहर होने की त्रासदी से निकल आना चाहता है। सामाजिक संरचनाओं में फैले जातिगत विडम्बनाओं के स्तर पर देखें तो उचित लगता है लेकिन पारिवारिक स्तर पर बेहद खतरनाक। क्योंकि परिवार के शेष सदस्य अब भी उसी सामाजिक ताने-बाने में धंसे हैं। दलित डिस्कोर्स के भीतर जाकर इस कहानी को पढ़े तो कई तरह की असहमतियां एक साथ खुलेंगी। इस कहानी का महत्व इसलिए भी है कि मुसहर जाति पर बमुश्किल से कहानियां मिलेंगी। उनके भीतर की जिन्दगी में प्रवेश के लिए भी लेखक साधुवाद के पात्र हैं।

'मंडन मिसिर की खुरपी' भी एक ऐसी ही कहानी है जिसमें पढ़ा-लिखा बंगलोर में इंजीनियर बेटा अपनी पत्नी के साथ स्थायी रूप से वहीं रहना चाहता है। गांव से उसका कोई लेना-देना नहीं है लेकिन पुश्तैनी जमीन को बेच कर बंगलोर में घर खरीदना चाहता है। गांव की जमीन उसके लिए अनुपयोगी है। मंडन मिसिर अपनी पोती को देखने जब शहर जाते हैं तो बेटे-बहू गांव की जमीन बेचने के लिए उनके सामने झगड़ने लगते हैं। दोनों के तर्क इस किस्म के हैं कि महंगे शहर में घर खरीदना मुश्किल है। महंगाई इतनी है कि बचत नहीं हो रही। मंडन मिसिर इस बात को समझ जाते हैं कि जमीन बेचनी होगी। दोनों के व्यवहार भी इस किस्म के होते हैं कि गांव में सबसे सम्मान पाने वाले मंडन मिसिर अपमानित सा महसूस करते हैं। उन दोनों की परिवार की अवधारणा में मंडन मिसिर बेदखल से लगते हैं। मंडन मिसिर गांव की जमीन बेच पैसे बेटे को दे देते हैं लेकिन उनकी हालत नीमपागल सी हो जाती है। खुशमिजाज रहने वाले मिसिर जी उखड़ने लगे थे। स्मृतियां जबाब देने लगी थी। अकेले में बड़बड़ाने लगे थे। अपने विचारों में उदार, प्रगतिशील, विद्वान मिसिर जी लोगों की दृष्टि में सनक गए थे और एक दिन घर छोड़ कहीं चले गए।

सूर्यनाथ सिंह ने इस कहानी में भी गांव के बदल जाने के कई दृश्य सामने रखे हैं। मिसिर जी की खेती धीरे-धीरे उन लोगों के हाथों में जाती हुई दिखती है जो कभी भूमिहीन थे, जिन्होंने शहरों में रोजगार-धंधो करके पैसे जुटाये और जमीनें खरीदी। गांव के आदमी का शहर में अनफिट होना और शहरी जीवन जीने वाले नयी पीढ़ी के लिए गांव का रास्ता छूट जाना - इस कहानी के मलबे में दबे हुए हैं, लेकिन विकसित होते हिन्दुस्तान की विडम्बनाओं की तरफ इशारा करते हैं।

'धधक धधक धुआं' कहानी आदिवासी इलाके की है। इस कहानी में आदिवासियों के उजड़ने और नक्सली हिंसा फैलने को रूपक में बांधा गांवों के धवस्त होने की कथा को कहा गया है। कहानी तीन मित्रें की है जो कभी साथ-साथ पढ़ते थे। नौकरी ने इन्हें अलग कर दिया था। लेकिन सोशल मीडिया ने एकदूसरे को जोड़ दिया। अशरफ छुट्टियों में अपने जिलाधिकारी मित्र निर्मलेन्दु बागची और तारानंद से मिलने शिवपुरी जाता है। स्थानीय अखबारों में आदिवासियों की हत्याओं की खबरों को पढ़ उसके संदर्भ में बात करना चाहता है। लेकिन किसी जमाने में क्रांतिकारी विचारों वाला निर्मलेन्दु इन बातों को टालता है। वह इसे नक्सली हिंसा बताने के बजाए आपसी

रंजिश का मामला बताता है।

इस कहानी का टेक्नीक यात्रा वृतांत के करीब रखा गया है। तीनों मित्र सपरिवार आदिवासी इलाकों में घुमते हैं। तारानंद आदिवासी समाज, जीवनशैली, भाषा और संस्कृति, नृत्य-गीत, मेले आदि से परिचय कराता है। अपने मित्र को आदिवासी समाज और संस्कृति में आए परिवर्तन को बताता है। खुद तारानंद निर्मलेन्दु की मदद से उन इलाकों में एनजीओ चलाता है और एनजीओ द्वारा आदिवासियों के शिक्षा, रोजगार के लिए किए गए प्रयासों से अवगत कराता है। लेकिन उन बातों को दबाता चलता है जो सतह के नीचे धधक रही है।

कहानी आदिवासी इलाकों की त्रासदी को सामने रखती है। जंगल, जमीन, पेड़, पहाड़ नदी लूटे जा रहे हैं। आदिवासी विस्थापित हो रहे हैं। कारपोरेट घरानों को खदानें बेची जा रही हैं। आदिवासियों को उजाड़ने के लिए मुखिया और सरपंचों को खरीदा जा रहा है। दलाली और सौदों का हिस्सेदार बना उनकी जमीनें हथियाया जा रहा है। पुलिस और प्रशासन वहां से उठने वाले आवाजों को दबा रहे हैं। फर्जी केस बनाए जा रहे हैं। नक्सली हिंसा जैसी वारदात को इसलिए दबाया जा रहा है कि ताकि राजनीतिक बिसात न बिछ जाए। या नक्सलियों का जमावड़ा न शुरू हो जाए। जिलाधिकारी निर्मलेन्दु चाहता है कि ये सब खबरें दबी रहें। उसके प्रशासनिक इलाकों में सब अच्छा है लोगों में ऐसी खबरें जाए। उसकी सत्ता और सल्तनत बनी रहे। कभी गरीबों के हक में क्रांतिकारी आवाज उठानेवाला चरित्र सत्ता पाकर सब भूल चुका था।

सूर्यनाथ सिंह इस कहानी में आदिवासियों पर चलने वाले तमाम बहसों को खींच लाते हैं। तीनों मित्रें की बातचीत में आदिवासियों पर होनेवाले बौद्धिक विमर्श के कई आयाम यहां मौजूद हैं। आपसी बहसें कई बार कहानीपन के केंचुल को छोड़ विमर्शात्मक दुनिया में खींच लाती है। लेकिन वापस अपने घर में लौटते हुए कथावाचक के मन में उठने वाले उदास प्रश्न कथारस का संचार करते हैं। कहानी फिर से यहीं जीवंत हो उठता है।

चलती चाकी उपन्यास में लेखक गांव की उन तमाम समस्याओं को जो पहले से ही कहानियों, उपन्यासों में मौजूद हैं उसे एक वैकल्पिक रूप देने की कोशिश करते हैं।

जिस तरह से अंतहीन सूचनाओं के समाज में हम जी रहे हैं और मीडिया जिस तरह की भाषा हमारे बीच फैला रही है, हमें डर है कि आनेवाली पीढ़िया लोकभाषाओं और मुहावरों से कट जायेगी। सूर्यनाथ सिंह ने अपनी रचनाओं में स्थानीय, क्षेत्रीय लोकभाषाओं का उपयोग किया है, हमें लगता है कि एक तरह से स्थानीय भाषाओं का संरक्षण का काम भी हुआ है।

**मो0 : 9560143282, 9868326848, मेल : rajkumarhindi@gmail.com**

लेखक हिन्दी विभाग श्यामलाल कॉलेज में असिस्टें प्रोफेसर हैं।

# खोजने दो मुझे अपना खुद का वसंत !

अरुणाकर पाण्डेय

**परसाई जी की इसी परम्परा को सुधीश पचौरी ने अपनी एक गद्य-रचना 'बाजार में वसंत' में ग्लोबल अर्थ में वसंत को समकालीन विस्तार दिया है और यह बताया है कि अब वसंत को बाजार लाया करता है। इनके इस गद्य में वसंत का शीतयुद्धोत्तर स्वाद मिलता है और आने वाली नई दुनिया की सूचना।**

आज के साहित्य में वसंत की पड़ताल की जाए तो निश्चित ही यह समझ बनती है कि कहीं साहित्य से उसका सम्बन्ध ऐतिहासिक तो नहीं था। पारंपरिक साहित्य वसंत के आगमन की सूचना रस के आस्वादन के साथ देखता था और उसे मनुष्य के जीवन का एक ऐसा पर्व मानता था जिसमें वह अपने मनुष्यत्व की रक्षा और उसके विकास का अवसर देखता था। वह पाठक के संकीर्ण हृदय को ऐसा संस्कार देता था जिसमें वह सिर्फ कोई सांस्कृतिक क्रिया मात्र के रूप में सीमित नहीं रह जाती थी बल्कि यह भाव स्थापित करती थी कि प्रति ने मनुष्य में जो कुछ अधूरा छोड़ा है उसे वह वासंती मिठास से भरा जा सकता है। यह एक ऐसी स्थिति थी जो साधारणीकरण की प्रक्रिया में जन-मानस की अभिव्यक्ति बन जाती थी और जो कुछ जहाँ था वह उसी रूप में एक परिव्याप्त सौन्दर्य को प्रस्तावित करता था। इसके साथ ही वह ऐसे भावों के साथ लोकमंगल के परीक्षण और संवर्धान के विचारों को भी इतनी कलात्मकता के साथ पिरो कर रखता था जिससे शासकों में बुद्धि और हृदय की शुद्धता और साहित्य में आलोचना की परम्परा विकसित होती थी। कभी-कभार ऐसे में लोकधर्म और मिथक के भी अद्‌भुत प्रयोग देखने को मिलते थे। अभिप्राय यह कि वसंत ऋतु साहित्य और समाज के सम्बन्ध का

नवीनीकरण करने का सशक्त माध्यम बन गया था। वसंत आक्रोश को संतुलित और बेहतर बनाने का अवसर साहित्य के द्वारा प्रदान करता था।

साहित्य में वसंत की यह परंपरा एक लम्बे समय या कालान्तारों के साथ चलती रही लेकिन अपने समकालीन पड़ाव पर आते हुए वह इस तरह से बिखरी कि उसका अनुमोदन आज एक बहुत बड़ी नाटकीयता लग सकती है। वह आज अपना तेज खोती हुयी दिखती है। यह परम्परा अचानक नहीं बिखरी है बल्कि समाज और उसमें आने वाले परिवर्तनों की तरह एक प्रक्रिया का प्रतिफलन है। साहित्य और वसंत की यह कहानी समाज के विखंडन और मनुष्य के अधूरेपन को रेखांकित करती है। साहित्य, वसंत और मनुष्य के उभरते इस नए सम्बन्ध की पदचाप हरिशंकर परसाई के निबंध 'घायल वसंत' में स्पष्ट सुनने को मिलती है। इस निबंध में परसाई जी ने वसंत की पूरी उपस्थिति को बदल कर रख दिया है। उसे रितुराज की भूमिका से निकाल कर मनुष्य की यथार्थवादी प्रासंगिकता से जोड़ कर प्रस्तुत किया है। इसे पढ़ते हुए पाठकों को वसंत के एक नए रंग का आभास होता है और यकीनन पारंपरिक पाठक को एक तगड़ा सांस्कृतिक झटका लगता है?

लेखक के रूप में परसाई जी की विशेषताएँ और उनकी सर्वविदित है लेकिन वसंत का जो बोध उन्होंने अपनी लेखनी से पाठक को दिया है, वह विलक्षण है। वह वसंत की पारंपरिक और अति नाटकीय समझ को तोड़ती है और उसके भीतर से वसंत के समकालीन चरित्र का परिचय मिलता है। जिस वसंत को पारम्परिक साहित्य रितुराज मानता है और उत्सव को जन-मानस में स्थापित करता है, उसी वसंत को परसाई आम आदमी की आर्थिक परिस्थिति से जोड़ कर पेश करते हैं। प्रस्तुत निबंध में परसाई जी ने सर्वप्रथम वसंत को उस 'वसंतलाल' के रूप में प्रस्तुत किया है जो वसंत के समय में उनसे उधार वसूलने दरवाजे पर आ जाता है। कहाँ वसंत मनुष्य के रंगों को जमाया करता था और अब वसंत उधार की संस्कृति की दास्तान कह रहा है। एक बार जब फिर दस्तक होती है तो लेखक को पता चलता है की सचमुच का वसंत उसके दरवाजे पर खड़ा है। इस पर भी वह उधार के भार से ही परिचालित होता है और यह सच बताता है कि वास्तव में वसंत का उत्सव धनी वर्ग के लिए होता है न कि गरीबी से पटे आम आदमी के लिए। जब वसंत लौटकर जाने लगता है तब भी लेखक एक नया कटाक्ष उस पर करता है। वह उसे फेसलिफ्टिंग का अच्छा कारीगर मानता है और इस तरह वह उसे हृदय के आनंद से न जोड़ कर सौन्दर्य प्रसाधान के कल्चर और बाजार के उपकरण की तरह देखता है। इस पर भी वह उसे अपने चेहरा-मोहरा सुधारने के लिए न कहकर अपनी सीढ़ी सुधारने के लिए कहता है। वह स्पष्ट रूप से हमें यह बताता है कि जीवन चलाने के लिए आम आदमी को हमेशा रोटी-कपड़ा-मकान के प्रश्नों से ही जूझना है और यदि ऐसे में वसंत बाजारीकरण का दलाल बनकर सामने आये तो फिर कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे वसंत की कोई जरूरत नहीं। उसका बार-बार आना बाजार को मजबूत और आम आदमी को कमजोर बनता रहेगा और बजाय उसे कोई सांस्कृतिक सम्पूर्णता देने के भ्रम और भय का संचार करता रहेगा। यहाँ स्पष्ट पता चलता है कि परसाईजी का 'घायल वसंत' पारम्परिक वसंत की छवि के छद्म को तोड़ता हुआ नजर आता है और इस प्रक्रिया में वह

तुकों में बंधे हुए वसंत का भी निर्मम आलोचक बनता है। इस निबंध में वसंत का एक और अर्थ निर्मित करते हुए परसाई जी ने 'घायल वसंत' को अपने देश भारत का प्रतीक माना है जो बर्फीली हवा रुपी चीन और लू रूपी पाकिस्तान के बीच घिरा हुआ है। यह भारत के युद्ध का तत्कालीन सन्दर्भ है जो फिर यही साबित करता है कि असली वसंत तो मन से ही मिलता है न कि गैर-मानवतावादी प्रवृत्तियों से।

परसाई जी की इसी परम्परा को सुधीश पचौरी ने अपनी एक गद्य-रचना 'बाजार में वसंत' में ग्लोबल अर्थ में वसंत को समकालीन विस्तार दिया है और यह बताया है कि अब वसंत को बाजार लाया करता है। इनके इस गद्य में वसंत का शीतयुद्धोत्तर स्वाद मिलता है और आने वाली नई दुनिया की सूचना। फरवरी दो हजार छह के महीने में प्रकाशित उनका यह लेख पाठक की यह समझ बनाता है कि मार्केट ने मनुष्य के जीवन और उसके भावों पर अपना नियंत्रण कर लिया है और उसके भविष्य के रास्ते यहीं से होकर आगे जाते हैं। एक तरह से यह मनुष्य को यह बतलाता है कि साहित्य के रसिक या सहृदय का स्थान अब बाजार-तंत्र के उपभोक्ता ने ले लिया है। एक अर्थ में अब बाजार ही वसंत को लाएगा और उपभोक्ता ही वसंत का यह नया आस्वादन कर पायेगा। यह इस पीड़ा को जन्म देता है कि रितुराज वसंत और उसके साथ की पूरी संस्ति वास्तव में अब पूँजी के खुले खेल में बदल चुके हैं। इस गद्य-रचना में पचौरी जी स्पष्ट संकेत कर चुके हैं कि सन दो हजार छह का यह उद्देश्य है कि जब बाजार पीले रंग के सेल बैनर में उपभोक्ता का स्वागत करने लगे तब समझ लेना चाहिए कि वसंत आ गया है। इसके साथ ही पता चलता है कि वसंत के टेसू वाले पीले रंग की हत्या हो चुकी है और उसकी जगह किसी भी तरह का पीला रंग प्रचलन में आ गया है। स्पष्ट है कि वसंत के असल मूल्यों के साथ उससे सम्बंधित वस्तुएँ भी नेपथ्य की ओर हैं और यह बात एक भयानक सांस्कृतिक सच की तरफ हमे ले जाती है कि भविष्य का मनुष्य वसंत के वास्तविक स्वाद से हमेशा के लिए अनभिज्ञ ही रह जाएगा। वसंत उसके लिए पोपुलर माध्यमों और विधाओं की एक संरचना मात्र बनकर रह जाएगा। उपभोक्ता की जेब के अनुसार वसंत का यांत्रिक पीलापन निखरेगा और इस तरह वह भविष्य की यात्रा तय करेगा।

इस बोध के साथ पचौरी जी यहाँ पर वसंत आगमन के कुछ अभूतपूर्व लक्षण बताते हैं। इसमें फिर चिकित्सा से सम्बंधित बाजार की तरफ उन्होंने ध्यान दिलाया है कि वसंत का समय अब खाँसी-जुकाम से भी पहचाना जा सकता है। इस समय एक अच्छी-खासी आबादी लैब में अपनी बीमारियों का परीक्षण कराते हैं और इससे धंधो की चांदी हो जाती है। लेकिन इसके साथ ही यह स्मृति भी यहाँ पर बनी रहती है कि कोई पद्माकर के छंदों का वसंत देखना या रचना चाहे तो वह अब संभव नहीं है क्योंकि दिल्ली जैसे शहर धूल से इस हद तक पटे हुए हैं कि वहाँ भी अब वसंत नहीं आएगा। जब बयार बहेगी तो वह सुगंध नहीं फैलाएगी और धूल-मिटी नचायेगी जिससे प्रभावित होकर लोग बीमार होंगे तथा लैब में लम्बी लाइन लगेगी। यहीं पर पाठक को परम्परा के खोने का गहरा अहसास होता है और यह समझ विकसित होती है कि वसंत को लेकर साहित्य का युगीन अंतर परिलक्षित हो चुका है। समाज और उसका चरित्र बदल चुका है और एक उत्सव जो सामूहिक अवचेतन का कभी जीवंत हिस्सा था अब स्मृतियों में दबा भूला-बिसरा स्वाद बन कर रह

गया है। यही नहीं पचौरी जी वसंत के अन्य साधारण परन्तु महत्वपूर्ण लक्षण इस लेख में बताते हैं। जैसे कि, युवाओं से जोड़ कर वे लिखते हैं कि जब वह स्वेटर की जगह अति-चुस्त बनियाननुमा टी-शर्ट धारण करें तब समझना चाहिए कि वसंत आ गया है। यह युवा पारम्परिक साहित्य के नायक से बिलकुल अलग है जो बृज की गलियों में टोली बनाकर होली खेलता था और सबकी बलैयाँ लेता था, यह तो फैशन के रस में सराबोर युवा है जो शरीर से दुनिया को स्तब्ध कर देना चाहता है न कि अपने श्रम और सादगी से।

इसके बाद जो अगला लक्षण वसंत-आगमन का पचौरी जी बताते हैं वह वैलेंटाइन-डे और उससे जुड़े नाटकीय विवाद का है। इसमें उन्होंने यही चुटकी ली है कि जब शिवसेना सरीखे संस्कृति के ठेकेदार वेलेंटाइन-डे पर मिलने वाले प्रेमी-युगलों पर हमले करने लगें तो मान लेना चाहिए कि वसंत आ गया है। उनकी यह टिप्पणी वास्तव में तो समकालीन भारत में संगठित गैर-आधुनिक संगठनों पर गहरा कटाक्ष तो है ही लेकिन यह अध्ययन के लिए एक बड़ा प्रश्न पाठक के सामने रखता है कि जिस मध्यकाल ने वसंत, फागुन और होली से मनुष्य के स्वच्छंद और उल्लसित मन को अभिव्यक्ति दी उसे आधुनिक काल में अचानक इस तरह के प्रतिक्रियावादी व्यवहार का सांस्तिक आधार कैसे बनाया जा सकता है? हम जिस कृष्ण की रास-लीला को उत्सव की तरह देखते हैं और सूरदास के श्रृंगार के पदों का अस्वादन कर हृदय का विस्तार करते हैं, आखिर उसी भावना को हम अपने समाज में ऐंद्रिकता तक कैसे सीमित रख सकते हैं। निश्चित ही इसका उत्तर सामन्तवादी सोच और राजनीतिक अवसरवाद में है जबकि हमें आज के वैश्विक और ऐतिहासिक दबावों में समाज की संरचना करनी है उसे प्रगतिशील बनाना है।

इसी लेख में पचौरी जी ने वसंत के एक अन्य बेहद मार्मिक लक्षण का उल्लेख किया है जो हमारी शिक्षा-व्यवस्था पर एक सार्थक टिप्पणी है। वे कहते हैं कि जब अखबार यह जताने लगें कि बच्चों की परीक्षा का समय आ गया है और उसके प्रबंधन की उन्हें क्या तैयारी करनी चाहिए तब समझना चाहिए कि वसंत आ गया है। क्या अवाक कर देने वाली यह स्थिति है कि देश का बाल और किशोर जीवन वसंत के समय परीक्षा के दबाव में जी रहा है। ऐसे में अगर हम उस पर यह आरोप लगाते हैं कि वह वसंत की स्वस्थ परम्पराओं को नहीं जानता या उनके अनुसार व्यवहार नहीं करता तो निश्चय ही यह हमारी त्रुटि है। हमने उसे करियर और बाजार के हवाले सौंप रखा है और हम ही उससे आदर्श जीवन की अपेक्षा रखते हैं। यह एक ऐसा उदाहरण है जो हमारे मिथ्याचार को बहुत ही गहराई के साथ प्रस्तुत करता है लेकिन यह बोध भी देता है कि अब बहुत देर हो चुकी है और वसंतहीन पीढ़ियाँ अब भविष्य निर्मित करने में संलग्न हैं। आश्चर्य यह है कि मनुष्य की शिक्षा के इस भाग पर प्रकृति-प्रेमी और पर्यावरणविदों के आन्दोलन में कोई सार्थक झुकाव देखने को नहीं मिलता। यदि हो भी तो वहाँ अभी बहुत काम करने की गुंजाइश में किसी की दो राय नहीं होनी चाहिए।

जिनकी स्मृतियों में वसंत का पारम्परिक साहित्यिक आस्वादन बचा हुआ है उनके लिए वसंत का खो जाना समकालीन अर्थ में उदासी का भावबोध निर्मित करता है। कहने को सारे

आलम्बन और माध्यम उन्हें दिख सकते हैं लेकिन समाज से वसंत के उत्सव का लुप्त होना या फिर उसके स्वाद का खो जाना ऐसे सहृदयों और रचनाकारों के मन में टीस पैदा करता है। वसंत पर केन्द्रित एक ऐसी ही मार्मिक रचना कविता के रूप में नीलेश रघुवंशी द्वारा 'उदास गीत' के नाम से प्रकाशित है। यह वसंत पर लिखी गयी बेहद मार्मिक कविता है जिसमें कवियत्री ने यह समकालीन भाव दिया है कि आज के समय में स्वयं रचनाकार ही इतना टूटा हुआ महसूस करता है कि खुद वसंत ही उससे खो गया है। उसे यह दरकार है कि उसे पहले अपना वसंत खोजना पड़ेगा जो कि वास्तव में शोक की स्थिति है। शोक इसलिए क्योंकि जो वसंत साहित्य की परम्परा में विद्यमान है वह अब खोजने पर भी नहीं मिलता मानो कि वह अब स्वयं स्मृति में पड़े हुए किसी मिथक का हिस्सा हो। यह सहृदय के लिए बहुत कारुणिक स्थिति है और वह यहाँ पर लुटा हुआ प्रतीत होता है। यह उदासी इसीलिए है। लेकिन यहाँ पर विशेषता यह है कि नीलेश जी ने अग्रज या पूर्वज कवि से संवाद बनाए रखा है और यह सन्देश दिया है कि जैसा भी हो वसंत को अंकित करना नहीं छोड़ा जा सकता, इसलिए यह कविता आज के सहृदय का सच्चा बयान लगता है। यह सहृदय वसंत के खोने के चोटों के निशान को अपने मन से मिटने नहीं दे सकता क्योंकि वह जानता है कि वसंत का साहित्यिक बोध समूचे मानवता की असली पूँजी है जिसे खोना मृत्यु की ओर बढ़ना है और मनुष्य के अंत को स्वीकार करना। यहाँ वसंत के खोने को झुठलाया नहीं गया है बल्कि पूरे मन और ईमानदारी के साथ इस दु:ख को अपनाया गया है। इस कविता में वसंतकाल का जो यथार्थ नीलेश रघुवंशी द्वारा प्रस्तुत किया गया है वह इस तरह है कि –

कह गए सारे अग्रज रितु वसंत की
है मदमाती छलकाती यौवन सौन्दर्य प्रेम का
ढूँढती हूँ फूलों का संसार बुना जो अग्रज कवियों ने
टिकती है निगाह एक बड़े से गमले में प्लास्टिक के फूलों पर
वसंत यहाँ आया भी तो दिखा किसे ?

नीलेश रघुवंशी का यह यथार्थ चित्रण हमें आज के मनुष्य की इस स्थिति से आत्मसात कराता है कि बेचारा वसंत तो अब गमले में रखे प्लास्टिक के फूलों पर ही निर्भर हो चुका है। जाहिर है कि यह वसंत कृत्रिम है और ध्यान से देखा जाय तो प्लास्टिक के फूलों के पीछे भी मौसम,बाजार और उपभोक्ता की नई त्रयी मौजूद है। लेकिन ये पंक्तियाँ सिर्फ नकली फूलों तक ही सीमित नहीं हैं क्योंकि आज इनका स्वाभाविक विकास हमारे यंत्रों पर आकर टिकता है। इसकी वजह यह है कि अन्य जीवंत अभिलाषाओं और संस्कारों की तरह वसंत भी हमारे लिए प्रौद्योगिकी के अंतर्वस्तु में परिसीमित होता चला जा रहा है। यह हमारे संबंधों को कृत्रिम सौन्दर्य और यांत्रिक औपचारिकताओं में ढाल रहा है जिसमें वसंत इन्टरनेट पर उपलब्ध कच्चे माल में रूपांतरित होता चला जा रहा है और हमारी व्यक्तिगत तथा सामाजिक रचनात्मकता को नियंत्रित करता चला जा रहा है। जितना समय हमें वसंत के आगमन की प्रतीक्षा में लगता था, उतनी देर में तो हम न जाने कितनी बार और न जाने कितने लोगों के साथ वसंत तथा होली को निपटा देते हैं। ऐसी स्थिति में

वसंत के प्रातिक चिह्नों की क्या पहचान बनती है इसे भी नीलेश जी की कविता 'उदास गीत' की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है

फरवरी का महीना सखि वसंत..... सखि ढूँढे नहीं मिलता वसंत
देखो रूठकर कहीं बादलों के पार तो नहीं चला गया
न मोर नाचता दीखता है, न कोयल कूकती
पानी की आस में काँव-काँव करता कौवा
घोंसला बनाने की जगह ढूँढती चिड़िया
कैसी अजीब सी हड़बड़ी में दिखती है देखो

क्या सचमुच यही वसंत है। जिस हृदय ने मोर के नाच की थिरकन को महसूस नहीं किया और जिस कान ने हमेशा के लिये कोयल की कूक को खो दिया, उसका विकास स्वाभाविक और प्राकृतिक हो ही नहीं सकता। एक चिड़िया को घोसला बनाने की जगह न मिल सके और कौवा प्यास से तड़पे वह सिवाय मनुष्य के सूचना समाज या युद्ध भूमि के और कौन सी जगह हो सकती है। पारंपरिक साहित्य की भावभूमि वसंत की तरह ही खो चुकी है। इसलिए जब नीलेश जी के भीतर का सहृदय पितातुल्य अग्रज कवियों के वसंत का ठोस आस्वादन ठोस भौतिकता में और यथार्थ रूप से करना चाहता है तो लगभग रोते हुए यह घोषणा करता है

हे महाकवि हे औघड़कवि हे सौन्दर्य के संघर्ष प्रेमी कवि
जब भी तोड़ती हूँ खुद को
दिखते हो तुम सूनी राह में बाँह फैलाए
अँधेरे में राह न दिखाओ पितातुल्य महाकवि
लिखने दो मुझे उदास गीत वसंत का
खोजने दो मुझे अपना खुद का वसंत।

और इस अंतिम पंक्ति से ही वसंत और साहित्य के सम्बन्ध की समकालीन जीवन्तता से परिचय बनता है जो हमें आज के इस यथार्थ पर पँहुचाता है कि अब सहृदय को अपना वसंत खुद ही खोजना है, वह भी पूरी तरह टूटकर।

✧ ✧ ✧

**मो. : 09910808735**

साहित्यिक पत्र–पत्रिकाओं में सक्रिय लेखन पत्रकारिता एवं सांस्कृतिक विषयों में विशेष अभिरूचि। सम्प्रति मोतीलाल नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्विद्यालय में सहायक प्रोफेसर हैं।

# हिंदी और उर्दू की स्त्रीवादी कविता का तुलनात्मक अध्ययन

**( नगमा जावेद की पुस्तक 'हिंदी और उर्दु कविता में नारीवाद' के सन्दर्भ में )**

डॉ. श्रुति आनंद सिंह

**इतिहास के जिस बिंदु पर सारी दुनिया में वर्जिनिया वूल्फ, सुस्किन आस्ट्रेकर और मारग्रेट लॉरेन्स जैसी नारीवादी साहित्यित विभूतियों का जिक्र होता है ठीक उसी समय उर्दू कविता में भी लिंग-पहचान और संबद्ध आत्मा-निर्णय के ठेठ प्रश्न उभरते हैं- हम कौन हैं? हमारी हकीकत क्या है? और क्या हम केवल औरत ही हैं?' यही से उर्दू कविता का स्वर हिन्दी कविता में नारीवादी की जद्दोजहद से आगे निकल जाता है।**

दक्षिण एशियाई देशों की भाषाओं में नारीवाद के चरित्र की व्याख्या करनी हो तो हिन्दी और उर्दू इन दो जुबानों के बगैर करना असंभव हैं एक ही समय और लगभग एक ही संस्कृति में पनपीं इन दो भाषाओं के बीच नारीवाद के स्वरूप की समानता ओर वैषम्य पर नज़र डालना सचमुच काफी जिम्मेदारी का काम था। नगमा जावेद मलिक ने हिंदी और उर्दु कविता में नारीवाद विषय पर शोध कर के इस जिम्मेदारी को बहुत सावधानी से निभाया है। नगमा जावेद मलिक मुंबई के एस. एनडी.टी. महिला विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग में रीडर हैं। इस पुस्तक से पहले भी लेखिका के नाम कई पुस्तकों, पुरस्कारों को जाना जाता है। जिनमें 'कुसुम अंसल का कथा साहित्य : एक और पंचवटी के संदर्भ में' एवं 'उर्दू कहानी में औरत की घुटन' जैसे नाम भी है।

यह शोध मूलत: नारीवाद के सैद्धांतिक निर्माण के बीच कविता के अस्वाद की भूमिका और हिन्दी-उर्दू के लिए नारीवादी समझ को प्रस्तावित करता है। जो अपने आप में भारतीय नारीवादी विमर्श के शुरूआती दौर में एक साहसी कदम है। इस साहस के संबंध में वे स्वयं कहती हैं-

''यह काम मैंने लघु शोध परियोजना के अंतर्गत शुरू किया था लेकिन समाप्ति पर देखती हूँ तो यह वृहत शोध परियोजना की

सीमाएँ पार कर गया है। अनुवाद के द्वारा उर्दू कविता की बड़ी मूल्यवान सामग्री हिन्दी में आ गई है।''

इस शोध का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है हिन्दी और उर्दू कविता में इसकी बराबर पैठ। हिन्दी जगत के लिए स्त्रीवाद और स्त्रीवादी साहित्य पर आधृत सामग्री की भरमार है लेकिन अपनी सहोदर बहन उर्दू में स्त्रीवाद के स्वरों की पहचान इसमें अभी नहीं हुई थी। उर्दू कविता में स्त्रीवादी सरोकारों की इतिहासजयी खोज के लिए लेखिका ने काफी पीछे तक स्त्री कवयित्रियों को खोजने का प्रयास किया हैं शुरूआती उूर्द में स्त्री कविता की खोज को रेगिस्तान का दरिया कहते हए उन्होंने इसके लिए उर्दू परिवेश के बंदिशों वाले माहौल और शाही घरानों की इज्जत आबरू को जिम्मेदार ठहराया है। नारीवादी सरोकारों में स्त्री की गुलामी की पहचान वो यहीं से शुरू कर देती हैं। नारीवाद के ठेठ जीवन से जुड़े सरोकारों तथा सिद्धांतों में कोई बहुत अधिक भिन्नता नहीं होती। उर्दू कविता में नारीवाद की परख का यह प्रस्थान बिंदु की शोध की स्पष्ट दिशा का संकेत हैं शुरूआती दौर की उर्दू कवयित्रियों में शहजादी जेबुन्निसा, उमराव बेगम, जीना बेगम, कामिला बेगम जैसी घरानों की स्त्रियों से लेकर शायरा महलका बाई चंद जैसी तवायफों का भी जिक्र है जिन्होंने मर्दों के प्रभुत्व वाले साहित्य क्षेत्र में पहले पुलिंग क्रिया रूपों के साथ शेर लिखें और फिर अपने स्त्रीलिंग के साहित्यिक स्वीकार का साहस अर्जित किया। पर्दानशीं खातूनों का या कदम-दर-कदम साहस अर्जित करना ऐतिहासिक है। जिसे क्रमशः उन्नीसवीं सदी के बाद के नारीवादी आंदोलन की नींव के रूप में देखा गया है।

इतिहास के जिस बिंदु पर सारी दुनिया में वर्जिनिया वूल्फ, सुस्किन आस्ट्रेकर और मारग्रेट लॉरेन्स जैसी नारीवादी साहित्यित विभूतियों का जिक्र होता है ठीक उसी समय उर्दू कविता में भी लिंग-पहचान और संबद्ध आत्मा-निर्णय के ठेठ प्रश्न उभरते हैं- हम कौन हैं? हमारी हकीकत क्या है? और क्या हम केवल औरत ही हैं?' यही से उर्दू कविता का स्वर हिन्दी कविता में नारीवादी की जद्दोजहद से आगे निकल जाता है। इसके बाद की उर्दू कविता से जितने भी उदाहरण नगमा जावेद पेश करती हैं वह साबित करता है कि उर्दू कविता में नारीवादी उग्र स्वरों की टंकार अपेक्षाकृत तेज है इसके विपरीत हिन्दी कविता के प्रस्तावो में अपेक्षाकृंत सूक्ष्म नारीवादी प्रश्नों की अनुगूँज दिखाई देती है। इसका कारण स्वयं नगमा जावेद भी देती हैं - ''हिन्दी कवयित्रियों की अपेक्षा उर्दू कवयित्रियों का लहजा ज्यादा उग्र है और उनकी आवाज़ भी अधिक ऊँची है इसका कारण यह है कि उनका माहौल अधिक दमघोंटू है, बंदिशे सख़्त हैं दीवारें अधिक ऊँची है जंजीरे ज्यादा वजनी है। हिन्दी कविता में यह उग्रता, यह आक्रोश दिखाई नहीं देता जो उर्दू में कविता में दर्ज है।''

उर्दू कविता में स्त्री की शिक्षा, घर से बाहर की जिंदगी की उत्फल्लता, देह की आज़ादी और सुन्दरता के स्वप्न मातृत्व और स्त्रीत्व का उल्लास और प्रेम कोई भी स्वर इतना प्रबल नहीं जितना कि आक्रोश और शिकायत का। यह आक्रोश और शिकायत जितनी मर्दवादी रवैया के प्रति है उतनी ही धर्म और रवायतों की दीवारों के प्रति भी। कुरान और अन्य धर्म ग्रंथों में औरत को मर्द का लिबास मात्र कहने वाली पुरूषसत्ता से उर्दू कविता हर लफ्ज़ में प्रश्न करना चाहती है।

बिल्कीस ज़फरूल हसन, परवीन शाकिर, रूबीना शबनम, तनन्नुम रियाज़, शहला निगार, रफ़िया शबनम, साजिदा ज़ैदी, अजरा परवीन, कीश्वर नाहिद, अजरा हबीब आदि लगभग सभी आधुनिक कवयित्रियों की कविताओं में पुरूष के अमानवीय बर्ताव पर तीखे-सीधे प्रश्न हैं। पुरूष को नफ़रत, स्वार्थवृत्ति, ताकत और अस्तित्व के प्रति घमंड, वासनापरकता, बेरूखी, तफरीहपसंद तबीयत और उच्छ्श्रृंखलता के बदले उर्दू कवयित्रियों के पास भी बेवफाई, हिकारत, तंज़, व्यंग्य, दुशनामी, तल्ख़ी और लानत ही है। वह चाहती है कि मर्द की सब कुछ छीन कर मज़ा लेने वाली फितरत को बेनकाब कर दे, पुरूष के पशुत्व को काबू में कर उसे सज़ा दे। अपनी लंबी नारकीय जीवन परंपरा के बदले मर्द की ज़िदगी को भी नर्क बना दे। नगमा जावेद मलिक के अनुसार उर्दू कविता में स्त्री के समक्ष पुरूष सत्ता का अस्तित्व ही सबसे बड़ा वैपरीत्य है जो उसके लिए जीवन का सबसे बड़ा दंश है और जिसे निकालने के लिए पूरी दुनिया को तहस-नहस कर देना भी कम है वे लिखती है- उनका दिल भट्ठी बना हुआ है और इस भट्ठी में वह हर चीज़ को जला देना चाहती है। पूरी दुनिया को तहस-नहस कर देना चाहती है। वह दुनिया जिसने उनके पाँवों को छाले दिए, हाथों में बेड़ियाँ पहना दीं।'' परिवार भी पुरूषसत्ता का सहायक है जहाँ बचपन से चलते आ रहे भेदभाव की तस्वीरें दिखती हैं। स्त्री पर हिंसा, उसकी शख्सियत को निगलना, उसके योगदान का नकार और उपेक्षा समाज की आदत बन चुकी है। जिसके लिए स्त्री के पास केवल चिढ़ है। वह अपने माता-पिता से नफ़रत करती है, अपने सगों से नफ़रत करती है, भाई-बहनों से नफ़रत करती है। जिंदगी की किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति को सहने की ताकत जिन रिश्तों की बिना बटोरी जाती है। उसमें भी स्त्री के लिए कोई सुकून नहीं। रवयतों की चक्की ने स्त्री के लिए स्त्री को भी अपना नहीं रहने दिया सबको पीस कर एक जैसा बना दिया है यहाँ तक कि बेटियाँ खुद पूछने को मजबूर हैं- कि क्या ये मेरी माँ है? नगमा जावेद रेखांकित करती है कि परंपरा, पीड़ा, हिंसा और घृणा के बोझ अब इनके लिए असहनीय हैं - इन कविताओं मे हर जगह इसका ऐलान है-

**'घर के हाकिम की रिज़ा पर**

**गर्दन घुमाते, घुमाते-घुमाते**

**मेरी रीढ़ की हड्डी चटख गई है'**

आत्मीयता और ऊष्मा के अभाव ने स्त्री के लिए घर को भी बीहड़ बना दिया है। नगमा जावेद प्रकाश डालती हैं कि पुराने ज़माने से शिकायत क्या हो आधुनिक सभ्यता में भी मानवीय संवेदना के मामले में परिवार एक बंजर है बल्कि 'घर' की ख्वाहिश तो नारी की सबसे बड़ी ख्वाहिश है। इतनी कोमल भावना की ख्वाहिश किसी नारी को 'बागी' कैसे बना देती है ऐसे कई कविता - चित्र नगमा जावेद ने अपने गंभीर विश्लेषण के साथ प्रस्तुत किए हैं।

उर्दू कविता में शर्म, हया, मर्यादा जैसे मूल्यों से ऊब चुकी कवयित्रियाँ ठेठ अधिकार की माँग करती हैं। वे अपने वजूद के अहसास से भरी हुई हैं। नगमा जावेद मलिक कवयित्रियों के भीतर कोमलतर भावनाओं के अस्तित्व, उने आत्म-निर्णय, आत्माधिकार और अस्मिता परक विचार

प्रक्रिया को बड़े ध्यान से रेखांकित करती हैं - ''यह नारी की नई सोच हैं, नया रवैया है, नया ज़हन हैं, अपनी अस्मिता को अब वह मनवाएगी। नारीवादी कवयित्रियों को ज़िद है कि पुरूष को अपना ढर्रा अपना रवैया बदलना होगा'' इस के अतिरिक्त स्त्री की यौनपरक अनुभूति का मुखर स्वीकार एक बड़ा साहस है। जिसको लेखिका ने विश्लेषण का बड़ा हिस्सा समर्पित किया है उनके विश्लेषण का अंदाज़ भी रूढ़ मान्यताओं पर एक प्रहार जैसा है। इस विश्लेषण में कुंवारेपन से जुड़ी शुचितावादी माँग, प्रेम संभोग के अनुभव तो हैं ही आधुनिक युग में बढ़ती तार्किक सोच के फलस्वरूप प्रेम और अहं के तनाव से युक्त कविताओं पर भी चर्चा है।

नगमा जावेद मलिक के अनुसार हिन्दी औद उर्दू कविताओं के तुलनात्मक पाठ में साम्य के कई बिंदु हैं - जैसे पुरूष वर्चस्व का नकार, अपने अहं अस्तित्व और अस्मिता के प्रति चेतना, आक्रोश, घर-परिवार, रिश्तों पर प्रश्न चिन्ह, प्रेम-मातृत्व और यौन संबंधी अनुभवों की अभिव्यंजना आदि। लेकिन महत्वपूर्ण हैं- वैषम्य - जो कम है जैसे -गुस्सा - आक्रोश और मैं की अधिकता और देहानुभवों का बेबाक स्वीकार। इस वैषम्य के लिए लेखिका सामाजिक स्तर पर तिलमिलाहट को ही जिम्मेदार मानती हैं।

हिन्दी और उर्दू कविता में नए शिल्प की खोज के लिए लेखिका ने स्त्रीवीदी सिद्धांत निर्मात्रियों के कथन तो उद्धृत किए हैं लेकिन विश्लेषण के लिए पूर्व पारंपरिक मानकों सपाटबयानी, पारदर्शित, व्यंग्यात्मकता, प्रतीक योजना, बिंबाकल (श्रव्य, घाण, दृश्य, स्पर्श्य), अलंकार योजना, छंद विधान, गधात्मकता) का ही सहारा लिया हैं भाषा व शिल्प में जिन भिन्नताओं की बदौलत पुरूष कविता विशिष्ट होने का दावा करती है इसके बरक्स स्त्री कविता की भाषा परक विशिष्टताओं का अध्ययन भी होता तो शोध इस पक्ष पर भी मज़बूत होता। फिर भी एक निष्कर्ष काबिलेगौर है -जो हिन्दी उर्दू के तुलनात्मक निकष पर एक महत्त्वपूर्ण स्टटमेंट है- जिसकी प्रामाणिकता पर भी बहस की जरूरत है।

''जब हम उर्दू और हिन्दी की नारीवादी कविता का जायज़ा लेते हैं तो इस सच्चाई से आँखे नहीं चुरा सकते कि भाषा सौंदर्य उर्दू कविता में अधिक है। हिन्दी में भाषा सौंदर्य का पुट कम है।''

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि नगमा जावेद मलिक ने कविताओं के सूक्ष्म विश्लेषण के माध्यम से स्त्रीवाद के गंभीर प्रश्नों को छूने की कोशिश की है। जो दक्षिण एशियाई स्त्रीवाद की खोज में एक सधा हुआ कदम है। हिन्दी और उर्दू की निजी सांस्कृतिक गंध इस विश्लेषण का अतिरिक्त देय है जो नगमा जावेद मलिक की अनुवाद कौशल से ही संभव हो पाया है।

रचनाकार दिल्ली विश्वविद्यालय के रामलाल आनंद महाविद्यालय में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।

**(आवास : फ्लैट नं. - 332, सैक्टर-9, पॉकेट-1, द्वारका, नई दिल्ली-110075)**

# निर्मल वर्मा की कहानियों में स्मृति-तत्व

संदीप कुमार जायसवाल

**निर्मल की कहानियों के पात्रों के पास 'घर' के नाम पर सिर्फ 'मकान' है एक पराया मकान। यह मकान दूसरे अर्थों में क्रूर वर्तमान है। वर्तमान के अलगाव, अजनबीपन में जी रहे पात्रों को घर की स्मृति कैसे बेधती है। इसका एक मार्मिक उदाहरण 'जाले' कहानी में मिलता है। इस कहानी की एक पात्र 'छोटी' अपने भाई के घर को देखकर बीते दिनों को याद करती है, जब वह उस घर में अपने, माँ, बाप, भाई, बहनों के संग रहती थी। इस घर में अब पहले जैसी चहलकदमी नहीं रह गयी है।**

निर्मल वर्मा की कहानियाँ स्मृति धर्मी हैं बहुत कुछ अपनी संगीत धर्मिता की तरह। स्मृति को उनकी कहानियों का प्राण तत्व कहा जा सकता है। कथा की संवेदना चाहे कैसी भी हो - अकेलापन, आत्मनिर्वासन, रिश्तों की दरार, बेरोजगारी या फिर मृत्युबोधा - उस पर स्मृति की छाया जरूर दिखायी देगी। प्राय: चरित्रों और कथानक का विकास स्मृति के सहारे ही होता है। यहाँ तक कि परिवेश के निर्माण में भी स्मृति की अहम भूमिका है। वह देश-काल तक को भी स्मृति से अनुरंजित करके देखते हैं। यही कारण है कि उनके यहाँ वर्तमान भी स्मृति में रूपांतरित हो जाता है।

निर्मल वर्मा की कहानियों में अकेलेपन और आत्मनिर्वासन के दंश को प्रशमित करने में स्मृति बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। स्मृति ही उनके चरित्रों को अपने अकेलेपन से मुक्ति के लिए प्रेरित करती है। स्मृति द्वारा पात्र 'अन्य' को अपने भीतर अनुभव करता है। स्मृति कथा-नायक के 'आत्म' की खोज है। उसके खोए हुए समय की तलाश है। स्मृति दो अस्तित्व, दो स्थितियों के बीच के दरार को पाटने की अकुलाहट की मार्मिक अभिव्यक्ति है।

स्मृति अपने ही भीतर से गुजर जाने की बात है। भीतर, जहाँ अपना खोया हुआ समय ठहरा है। खोए हुए समय को पाने की चाहत उनकी कहानियों में शिद्दत से दर्ज है। जैसे कि 'लवर्स' कहानी में प्यार में ठुकराया

गया प्रेमी सड़कों पर भटकता हुआ अपनी प्रेमिका के साथ बिताये आत्मीय क्षणों को याद करता है। वह सोचता है – "उस दिन हम दोनों हुमायूँ के मकबरे गए थे। वहाँ वह नंगे पाँव घास पर चली थी। मुझे नंगे पाँव घास पर चलना अच्छा लगता है – उसने कहा था। मैंने उसकी चप्पलें हाथ में पकड़ रखी थीं।[1] उस दिन प्रेमिका के साथ घास पर चलते हुए प्रेमी के चश्में पर धूल जमा हो गई थी। पर वह उसे अपने रूमाल से साफ नहीं कर पाता क्योंकि रूमाल में लड़की ने अपनी चप्पले बाँध रखी थीं। तब वह लड़की की साड़ी के पल्ले से अपना चश्मा साफ करता है – "तब मैंने उसकी उन्नाबी साड़ी के पल्ले से अपनी ऐनक के शीशे साफ किए थे।"[2] प्रेमिका के साहचर्य के इस दुर्लभ पल की स्मृति अन्ततः कहानी में अवसाद की सृष्टि करती है। यह लड़के का अतीत है। वर्तमान में शून्य का सन्नाटा पसरा हुआ है। इस तरह के प्रसंग पात्रों की भटकन की ओर हमारा ध्यान बरबस ही खींच लेते हैं। निर्मल वर्मा के पात्रों में हम एक अजीब तरह का भटकाव देखते हैं। वे अपने में खोये-खोये से रहते हैं। मानों अपने भीतर किसी भूली-भटकी स्मृति को ढूंढ रहे हों। वर्तमान के तीखे दंश से गुजरते हुए वह बार-बार अपने कल की ओर भागते हैं। वे बड़ी तेजी से एक दृश्य से दूसरे दृश्य में छलांग लगाते हैं। पर अन्त में हाथ लगता है उन्हें क्रूर वर्तमान, जो यातना, पीड़ा और अलगाव लिए हुए है।

'जिंदगी यहाँ और वहाँ' कहानी में एक लड़की अपने प्रेमी को छोड़कर दूसरे शहर चली जाती है। जाने से पहले वह अपने घर के सामने लड़के से बात कर रही होती है। बातों-बातों में लड़का उसे उसके प्यार के नाम से पुकारता है। लड़की लड़के की इस आवाज़ को फिर से सुनना चाहती है क्योंकि उसे पता है यह आवाज़ अब सिर्फ स्मृति में ही गूँजेगी – फैटी, तुम्हें याद है?– 'क्या बिट्टी?' कभी-कभी वह उसे बहुत प्यार में बिट्टी कहा करता था – एक निस्सहाय-सी बच्ची, जो उसका हाथ पकड़कर दिल्ली की सड़के लाँघा करती थी। --- 'एक बार और कहो'... उसने कहा।

'क्या?'

'जो अभी कहा था।'

'बिट्टी'।[3]

इस कहानी में लड़की के अपना शहर छोड़ देने के बरसों बाद लड़का जब उसके घर के सामने से गुजरता है तो बीते दिनों की यादें उसे एक पल के लिए वहीं रोक लेती हैं और वह देखता है–

"वही हवा में झूमते युक्लिप्टस के पेड़, नींबू की झाड़ी, लॉन के ऊपर उसका कमरा... वह प्रतीक्षा करता, अब वह आयी होगी, कमरे की बत्ती जलायी होगी, कोई रेकॉर्ड लगाकर बिस्तर पर लेट गयी होगी – एक अलौकिक-सी आवाज़ ईंटों की दीवार से, काँच के टुकड़ों पर फिसलती, छिलती हुई उसके पास आती थी, उससे लिपट जाती थी, धीरे से फुसफुसाती थी, 'फैटी, मैं यहाँ हूँ-यहाँ – मैं यहाँ हूँ।[4]

'मैं यहाँ हूँ' की अनुगूँज लड़के को और अकेला कर जाती है। इस कहानी का पात्र भी अपने खोये हुए समय को पुनः पाने की कोशिश करता है। यह जानते हुए भी कि अब होना कुछ

नहीं है।

निर्मल वर्मा की कहानियों में आत्म निर्वासन के क्षणों में 'स्मृति' ही कथा-नायक का एकमात्र अवलम्ब बनती है। यही कारण है कि निर्मल के यहाँ स्मृति प्राय: 'घर' के अर्थ में चित्रित हुई है। घर यानी अपनापन। जिसमें उनकी 'अस्मिता' है। जहाँ आदमी टिककर रहता है। वहाँ खानाबदोशी नहीं है। जैसाकि निर्मल वर्मा की कहानी 'धूप का एक टुकड़ा' की कथावाचक कहती भी है - "नाम वहीं लिखे जाते हैं, जहाँ आदमी टिककर रहे - तभी घरों के नाम होते हैं।"[5] और वर्तमान जो कि 'मकान' है, उनकी कहानी में अजनबीपन, परायेपन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह एक ऐसा वर्तमान है जहाँ कथा-नायक अपने 'आत्म' को, 'अपनों' को खो बैठा है। जैसे - 'परिंदे' में, 'दो घर' में, 'जिंदगी यहाँ और वहाँ' में, 'वीकएंड' में आदि। मलयज के अनुसार "इन कहानियों के पात्रों का कोई घर नहीं है, 'कोई आत्मीय जगह' जो बचपन में घर की रसोई हुआ करती थी, कोई आत्मीय बिस्तर, कोई जगह जहाँ जाया जा सके सिर्फ लौटा नहीं।[6]

निर्मल की कहानियों के पात्रों के पास 'घर' के नाम पर सिर्फ 'मकान' है एक पराया मकान। यह मकान दूसरे अर्थों में क्रूर वर्तमान है। वर्तमान के अलगाव, अजनबीपन में जी रहे पात्रों को घर की स्मृति कैसे बेधती है। इसका एक मार्मिक उदाहरण 'जाले' कहानी में मिलता है। इस कहानी की एक पात्र 'छोटी' अपने भाई के घर को देखकर बीते दिनों को याद करती है, जब वह उस घर में अपने, माँ, बाप, भाई, बहनों के संग रहती थी। इस घर में अब पहले जैसी चहलकदमी नहीं रह गयी है। वहाँ केवल मृतात्माओं की छायाएँ डोलती हैं। माँ, बाप की मृत्यु हो चुकी है। उतने बड़े घर में भाई अकेला रहता है। उसकी पत्नी की भी मृत्यु हो चुकी है। बहनें अलग-अलग शहरों में रहती हैं, उनकी भी जिंदगी बिखरी हुई है। इस सूने से 'घर' को जो अब 'मकान' में तब्दील हो चुका है, देख छोटी की आँखों के सामने बचपन के दिन घूम जाते हैं - "बँगले की चिमनी से काले धुएँ की लकीर ऊपर उठ रही थी जैसे कभी दूसरे समय की सर्दियों में देखा करते थे ... एक सोंधी-सी गन्ध हवा में तिरती हुई सारे घर में, घर के बाहर, बरामदे को पार करती हुई लॉन के उस कोने तक चली आती थी, जहाँ वे खेल रहे होते थे और वे अचानक अपना खेल छोड़कर छत को देखने लगते थे, जैसे कोई काला साँप सिरसिराता हुआ चिमनी के बाहर आ रहा है और वे सबकुछ भूलकर घर की तरफ़ भागने लगते थे, इस हड़बड़ी में, कौन बाबू के पास अँगीठी के सामने सबसे पहले पहुंचता है और तब देखते थे, भैया वहाँ पहले से ही बैठे हैं, माँ ने उन्हें गुँधे हुए आटे की गोलियाँ दी हैं, जिन्हें वे हथेली पर फैलाकर अंगीठी की खिड़की पर चिपका देते हैं।7 इस दृश्य को याद कर कहानी की एक पात्र घर के उस हिस्से की ओर तेजी से लपकती है। पर अफसोस अब वहाँ कुछ भी नहीं है। सिवाए हवा में झूलते 'जाले' के।

निर्मल की कहानियाँ बीते हुए दिनों की यादे हैं। कहानी का प्रारम्भ ही बीते दिनों के स्मरण से होता है। उदाहरण के लिए देखें -

"उन्हीं दिनों बिट्टो आई थीं। हमें ऐसा लगा था मानो वर्षों से वह हमारे संग रहती आई हों।" (डायरी का खेल)

"मैं उससे सेण्ट मार्क के स्कॉयर में मिला था। स्कॉयर में भी नहीं, उसके ज़रा पीछे, पुल के पास, जहाँ गँदोले खड़े रहते हैं। (पराये शहर में)

बहुत पहले मैं एक लड़की को जानता था। वह दिन-भर पार्क में खेलती थी। (दूसरी दुनिया)

इसके अलावा भी कहानी के बीच-बीच में कुछ ऐसे वाक्य आते रहते हैं जो पाठक को यह अहसास कराते हैं यह कहानी स्मृति की ही है। यथा -

'वह अलग समय था। मैं शुरू गर्मियों में उससे मिली थी। (वीकएंड)

'उस रात रह-रहकर नींद टूट जाती थी।' (डायरी का खेल)

'आज भी वह शाम नहीं भूला हूँ... उस रात के बाद नीरजा से कई बार मिलना हुआ था।" (तीसरा गवाह)

"वह शुरू दिसम्बर की शाम थी और हम हुमायूँ के मकबरे के पीछे छोटे टैरेस पर बैठे थे।" (लवर्स)

निर्मल वर्तमान के अनुभवों को भी स्मृति में रंगकर प्रस्तुत करते हैं। वर्तमान में घट रहा कोई भी प्रसंग हो वहाँ किसी न किसी रूप में स्मृति आ ही जाती है।

'पिता और प्रेमी' कहानी का नायक जब अपनी पुरानी प्रेमिका को देखता है तो उसे उसके चेहरे पर वही पुरानी छवि ही दिखती है - "चेहरा वैसा ही था जैसा उसे याद था। भूरे, झूलते हुए बाल, चौड़ा माथा, पूरी बाँहों का हरा स्वेटर... सिर्फ आँखे कुछ कम बेचैन थीं, कुछ ज्यादा ही आश्वस्त, जैसे समय ने उन्हें थिर कर दिया हो।"[8]

'वीकएंड' की नायिका वर्तमान को भी स्मृति में अनुभव करने लगती है। वह एक दिन प्रेमी के साथ उसके कमरे में है। सुबह होने पर उसकी आँखे खिड़की के बाहर के दिन को देखती है और वह सोचती है - "खिड़की के बाहर दिन था, मैली बदली का दिन। तीन लम्बे पेड़ पिछली रात वे हवा में झूम रहे थे। अब ठहरे थे। नंगी टहनियाँ जैसे - काले कार्बन से उतरकर बिल्कुल साफ कागज पर उतर आई थीं - यह मैं याद रखूँगी, ये चिनार के पेड़, यह सुबह का भूरा आलोक, उसने सोचा।"[9]

स्मृति को लेकर निर्मल के मन में इतना अधिक आकर्षण है कि वह भविष्य को भी स्मृति में बदलता हुआ देख लेते हैं। 'एक शुरूआत' कहानी का कथावाचक स्टीमर से लंदन से प्राग जा रहा है। स्टीमर के डेक पर बैठा वह सोचता है - "स्टेंड के परे हम, स्टीमर के सब यात्री, यूरोप के अलग-अलग सुदूर कोनों में खो जाएंगे। उनके संग बहुत कुछ खो जाएगा - चैनल की यह शाम, समुद्र की अबाध, रहस्यमय शून्यता, उनकी निस्पन्द आँखों का मौन।"[10]

वर्तमान और भविष्य के प्रति भी स्मृति की यह आसक्ति देखकर हम यह नहीं कह सकते कि निर्मल की कहानियाँ पूरी तरह स्मृति निर्भर हैं। उनकी कथा में स्मृति से वर्तमान की टकराहट भी है। यहाँ स्मृति-जल में तैरते हुए कथानायक की वर्तमान के शिलाखण्ड से टकराहट भी है। स्मृति से काल का निर्मम संघात भी होता है। 'पिता और प्रेमी' कहानी का नायक सालों

बाद जब अपनी पहली प्रेमिका से मिलता है तो उसे वह वैसी ही लगती है जैसी शुरू में थी। उसके मन में हूक सी उठती है कि वह उसे छूकर देखे क्या अब भी वही पुराने दिनों वाली प्यार की अनुभूति होती है। उसके देह की छुअन का वही जादू लौटकर आता है। पर तभी उसकी इस इच्छा को वर्तमान झटका देता है – प्रेमिका ने किसी दूसरे से शादी कर ली है। वह एक बच्चे की माँ है। प्रेमिका को उसके बच्चे के साथ देखकर वह अनुभव करता है – "लेकिन जो चीज लौटी, वह अक्तूबर की हवा थी, बच्चे की टोपी से खेलती हुई, जिस पर जामुनी रंग के छल्ले काढ़े गए थे।"[11]

वर्तमान का यह दंश उसे अवसाद से भर देता है।

निर्मल की कहानियों में स्मृति और विस्मृति का द्वन्द्व भी है। उनकी कथा के कुछ पात्र स्मृति निर्भरता पर व्यंग्य भी करते हैं। कुछ पात्र स्मृतियों की पीड़ा से मुक्त भी होना चाहते हैं। 'डायरी का खेल' की नायिका बिट्टो कथावाचक की स्मृतिशीलता को चुनौती देती हुई कहती है – "याद रहेगा? कौन ? वह, जिसे तुमने इन दो महीनों में देखा है, या वह जिसे बहुत पहले फोटो में देखा था या फिर वर्षों बाद जब तुम बड़े हो जाओगे तो वह भी नहीं... निरा पागलपन... किसको याद रखोगे बब्बू?"[12]

निर्मल की कहानियों में प्रकृति भी स्मृति को जीवित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। निर्मल जब भी स्मृतियों में डूबते हैं तो वहाँ प्रकृति जरुर होती है। स्मृति में जाने का अर्थ ही है प्रकृति के पास जाना। प्रकृति के बिना वह स्वयं को अधूरा पाते हैं ठीक वैसे ही जैसे कि स्मृति के बिना। प्रकृति सिनेमा का वह पर्दा है जिस पर स्मृतियाँ एक के बाद एक ऊपर उठने लगती हैं। आखिर दोनों ही उनके खोये हुए आत्म की तलाश है। प्रकृति और स्मृति एक दूसरे को आलोकित करते हैं। एक का अर्थ दूसरे में खुलता है। शिव और पार्वती के अभिन्न संबंधों की तरह –

'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिप्रत्तये
जगत: पितरौ बन्दे पार्वती परमेश्वरौ।'

वह अपनी कहानियों में प्रकृति के दृश्यों, घटनाओं को तटस्थ रूप में नहीं चित्रित करते वरन् उनकी जीवंत उपस्थिति दिखाते हैं। उनकी कहानियों में प्रकृति, मौसम, भूगोल के विभिन्न रूप यथा पहाड़, बारिश, झड़ते हुए बर्फ, पुराना गिरजाघर और उसके भीतर उड़ते-गिरते पत्ते, पुरानी **सड़कें और पुरानी गलियाँ सभी स्मृति के रंग में रंगे हुए हैं। निर्मल वर्मा का बचपन पहाड़ों पर बीता है। शिमला के बर्फ़, पहाड़, चीड़, देवदार, गिरजाघर उनके संवेदन में रचे-बसे हैं। इसी तरह से उनकी स्मृति में प्राग, जर्मनी, लंदन, विएना आदि में बिताए गये दिनों की कई छवियाँ अंकित हैं। अपनी कहानियों में वह इन जगहों, मौसमों की बहुवर्णी स्मृतियों को रेखांकित करते हैं। प्रकृति और स्मृति का यह सघन कलात्मक रचाव उन्हें हिंदी कहानी का 'पंत' बनाता है। प्रकृति का ऐसा विरल रूप हिंदी कहानी में दुर्लभ है।**

प्रकृति के दृश्यों में व्यक्ति अपने खोए हुए समय की तलाश करता है। एक तरह से वह उसके अकेलेपन की साथी होती है। 'परिंदे' की लतिका अपने अकेलेपन में भटकते हुए प्रकृति के दृश्यों और उसकी ध्वनियों को सम्मोहित सी देखा-सुना करती है। चीड़ के पत्ते खड़खड़ाते हैं, दूर

से बहते झरने की आवाज़ आती है। आसमान में अल्मोड़ा की ओर से छोटे-छोटे बादल आते हुए दिखायी देते हैं। या फिर कंटोनमेंट जाने वाली पक्की सड़क से कुमाऊँ रेजीमेंट के सिपाहियों की लेफ्ट-राइट की आवाज़ें आती हैं। यह सब लतिका के मृत प्रेमी गिरीश की स्मृति जगाने लगाते हैं। वह देवदार के पेड़ को देखकर अपने प्यार के उन दिनों की याद करती है, जब उसने देवदार के पेड़ पर गिरीश का नाम लिखा था। उस दिन की यह स्मृति लतिका के अवसाद को घना कर देती है - "वही देवदार है, जिस पर उसने अपने बालों के क्लिप से गिरीश का नाम लिखा था। पेड़ की छाल उतरती नहीं थी, क्लिप टूट-टूट जाता था तब गिरीश ने अपने नाम के नीचे उसका नाम लिखा था। जब कोई अक्षर बिगड़कर टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता था तब वह हँसती थी, और गिरीश का काँपता हाथ और भी काँप जाता था...।"[13]

'माया दर्पण' कहानी की नायिका तरन एक बड़े से घर में अपने पिता और बुआ के साथ रहती है। इन दो प्राणियों के होते हुए भी वह अपने को अकेला महसूस करती है। उसकी जिंदगी में अजीब सा सूनापन भर गया है। उसका घर एक रेतीले इलाके में है। जहाँ चारों ओर बड़ी-बड़ी चट्टाने हैं। तरन अपने घर से रोज भूरी रेत को उड़ते हुए देखा करती है। वह उन्हें बरसों पहले लड़ाई के दिनों में भी देखा करती थी और आज भी देख रही है। उड़ती हुई यह रेत ही मानो उसके अकेलेपन को बाँटती है। तरन अपने घर से दूर-दूर तक फैली रेतीली जमीन को देखकर सोचती है -

"सब कुछ कितना दूर और फिर वह भी कितना अपना था, तरन ने सोचा। कितने वर्षों से वह इन्हें देखती आई है। लड़ाई के दिनों में जब बैरक बनाए जा रहे थे और मिलिट्री ट्रकें गर्द उड़ाती हुई जब शहर से आती थीं, तब भी वह यहाँ थी, आज... बरसों बाद जब भीमकाय चट्टानों को तोड़कर नई सड़क खोदी जा रही है, बैरकों को ढ़ाया जा रहा है, यह भी वह सुबह-शाम कमरे की खिड़की से देखती आई है...।"[14]

निर्मल ने स्मृति को मृत्यु-बोध के संदर्भ में भी रूपायित किया है। उनकी अनेक कथाओं में मृतात्माओं की छायाएँ मंडराती हैं। यहाँ अनुपस्थित की उपस्थिति है। 'परिंदे', 'कव्वे और काला पानी', 'जिंदगी यहाँ और वहाँ', 'बुखार', 'जाले', 'खोज, डायरी का खेल' आदि कहानियों में मृतात्माओं की स्मृतियाँ रह-रहकर साथ चलती हैं और कथा के जीवित-भटकते हुए पात्र चाहकर भी उनकी छायाओं से मुक्त नहीं हो पाते। इस विषय में निर्मल वर्मा कहते हैं - "हम केवल उन लोगों के बीच ही नहीं रहते जो जीवित हैं अथवा मौजूद हैं। बल्कि हम उनके बीच भी रहते हैं जो मौजूद नहीं हैं। वे भले ही हाड़-मांस के जीवन्त रूप में न हों, पर स्मृति के तौर पर वे हमारे जीवन को संचालित करते हैं। उनका, न होना भी बहुत मायने रखता है। मृत्यु, अभाव इन सब का तीव्र बोध हमें हमेशा होता है।"[15]

'जाले' कहानी का नायक भी मृतात्माओं की परछाइयों को अनुभव करता है। उसका एक बड़ा सा बंगला है वह उसमें अकेला रहता है। नायक के माँ, बाप, पत्नी और भाई की मृत्यु हो चुकी है। जिनकी छायाएँ उस घर में डोलती रहती हैं। नायक उनकी स्मृतियों से पीड़ित है। एक दिन वह अपनी तीनों बहनों को यह बंगला बेचने के सिलसिले में बुलाता है। उसकी बहनें अलग-अलग शहरों में रहती हैं। उनके आने पर वह उनसे अपनी पीड़ा बयान करते हुए कहता है

– "हर दरवाज़ा खोलते ही हवा में झूलते जाले चेहरे से टकराते हैं, हर आहट कराहती-सी जान पड़ती है, यह मैं हूँ, यह मैं हूँ... और मैं झपटकर दोबारा दरवाज़ा बन्द कर देता हूँ...लेकिन उनसे छुटकारा नहीं पा सकता जो कभी यहाँ रहते थे, तुम सोचते हो, वे मर गए?

वे मुझसे कहीं ज्यादा जीवन्त हैं....।"[16]

'खोज' कहानी के पात्र भी अपने मृत भाई की स्मृतियों को अनुभव करते हैं। इसी तरह 'कव्वे और काला पानी' कहानी में शहर के ऊपर कव्वे मंडराते रहते हैं। यह कव्वे इसी शहर के निवासी थे जो मरने के बाद एक शाप के कारण कव्वे बन गये और अब अपनी मुक्ति की प्रतीक्षा में भटक रहे हैं।

स्मृति तत्व का प्रभाव निर्मल की कहानियों की भाषा पर भी देखा जा सकता है। निर्मल की जादुई भाषा को मूर्त रूप देने में स्मृति तत्व का बड़ा योगदान है। निर्मल अपनी कथा-भाषा को बिंब, उपमा, लय, प्रतीक आदि के सुंदर रचाव द्वारा उसे एक विशिष्ट रूप देते हैं। भाषा के यह उपकरण जब स्मृति-तत्व से संपृक्त होते हैं तो उनका सौंदर्य देखने लायक होता है। निर्मल के यहाँ स्मृतियाँ बहुतेरे बिंब जुटाती हैं। ध्वनि, रंग, गंध बिंबो के रूप में अनगिनत स्मृतियाँ हैं यहाँ। जाने कितने ही मौसमों की छुअन है इस भाषा में। गुजरे मौसम की याद उनकी भाषा को स्वपनिल बनाती है। बानगी के तौर पर देखें –

'शुरू मार्च की बसन्ती हवा', 'हवा में खत्म होती गर्मियों की गंध थी, एक सोनाली सी गंध जो उन दिनों समूचे शहर में तिरती रहती थी', 'वही बेंच थी जहाँ हम बहुत पहले एक शाम बैठे थे, ढलती हुई पीली धूप छोटे-छोटे घास के टुकड़ों पर झिलमिला रही थी। उन दिनों अकसर ये बेंचें खाली रहती थीं। बिल्कुल खाली भी नहीं...पत्ते लगातार उन पर झरते रहते' आदि। इन स्मृति-बिंबों के माध्यम से रूका हुआ समय फिर से बहने लगता है और पाठक के सामने अतीत के वह दृश्य साकार हो उठते हैं।

स्मृतियों में गूंजती ध्वनियों को भी खूब सहेजा है उन्होंने अपनी भाषा में। स्मृति -दिगन्त से आती तरह-तरह की ध्वनियाँ जिनके सम्मोहन में बंधी भाषा थिरकने लगती है – दूर कहीं बजती गिरजे की घंटियां, नदी का शोर, हवा की सरसराहट, झर-झर कर बहती रेत, पत्तों का खड़कना, लहरों की थप-थप आदि। और अतीत की ध्वनियाँ ही नहीं, उनके यहाँ वर्तमान में गूंजती ध्वनियाँ भी स्मृति बिंबों में बदलने लगती है। वर्तमान को भी स्मृतियों में जीने वाले निर्मल उसकी ध्वनियों को जब स्मृति-बिंबों में ढालकर प्रस्तुत करते हैं तो भाषा वहाँ बड़ी सपनीली सी लगने लगती है। 'परिंदे' में मीड़ोज के झरने का स्वर, बारिश के बूंदों की टप-टप और 'मायादर्पण' में ट्रेन के पहिए की गड़गड़ाहट, इंजीनियर बाबू की धमधम, उड़ती हुई रेत, पत्थरों के टूटने की आवाज़ ये सभी आवाज़ें स्मृतियों को रचने लगती हैं।

निर्मल की जिस संगीतात्मक भाषा की चर्चा अक्सर होती है उसे भी मूर्त रूप देने में स्मृति तत्व का खास योगदान है। निर्मल के यहाँ संगीत की सृष्टि मुख्यत: लय के कारण होती है। उनकी भाषा में एक लय के साथ छोटे-बड़े होते, आरोह, अवरोह लिए वाक्य संगीतात्मक प्रभाव छोड़ते हैं। स्मृतियों के प्रभाव से उनके यहाँ वाक्य की संरचना ऐसी बन पड़ी है कि वह एक लय में

उठती-गिरती है। वाक्य छोटे-बड़े, बड़े-छोटे अथवा छोटे से लगातार बड़े होते जाते हैं। जो संगीत का प्रभाव पैदा करते हैं। समय के आवर्त्तों में चक्कर काटता यह बावरा मन जब भाषा के जल में उतरता है तो लहराकर, ठहर-ठहर कर आगे बढ़ता है। कभी अतीत तो कभी वर्तमान की ओर शब्द फिसलते हैं। कभी स्मृति की देहरी के पास ठिठके ही रह जाते हैं। संगीत की भाषा में इसे 'यति' कह सकते हैं। इस तरह भाषा स्मृति की लहरों पर थरथराती, रूकती, हरहराती हुई लयमान होती है। इस लयात्मक भाषा के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-

"वही हवा में झूमते युक्लिप्टस के पेड़, नींबू की झाड़ी, लॉन के ऊपर उसका कमरा... वह प्रतीक्षा करता, अब वह आयी होगी, कमरे की बत्ती जलायी होगी, कोई रेकॉर्ड लगाकर बिस्तर पर लेट गयी होगी - एक अलौकिक-सी आवाज़ ईंटों की दीवार से, काँच के टुकड़ों पर फिसलती, छिलती हुई उसके पास आती थी, उससे लिपट जाती थी, धीरे से फुसफुसाती थी, 'फैटी, मैं यहाँ हूँ-यहाँ - मैं यहाँ हूँ।" (जिंदगी यहाँ और वहाँ)

"लगता है, जैसे अभी पीछे मुड़ूँगा, तो कमरे के किसी अँधेरे कोने में उसी शाम की तरह बिट्टो मेरी चीजें उलट-पलटकर, इधर-उधर बिखेरते हुए हँसकर कहेंगी - 'कोई काम की चीज नहीं - सब अल्लम-गल्लम जमा कर रखा है - सब कबाड़ी का दे डालो।" (डायरी का खेल)

"वही बंगला था, अलग कोने में पत्तों से घिरा हुआ...वह धीरे-धीरे फाटक के भीतर घुसी है...मौन की अथाह गहराई में लॉन डूबा है...शुरु मार्च की बसन्ती हवा घास को सिहरा-सहला जाती है...बहुत बरसों पहले के एक रिकार्ड की धुन छतरी के नीचे से आ रही है... ताश के पत्ते घास पर बिखरे हैं...लगता है, जैसे शम्मी भाई अभी खिल-खिलाकर हँस देंगे और आपा (बरसों पहले, जिनका नाम जेली था) बंगले के पिछवाड़े क्यारियों को खोदती हुई पूछेगी - रूनी, ज़रा मेरे हाथों को तो देख, कितने लाल हो गए हैं।" (दहलीज़)

इन उदाहरणों में स्मृतियों में गूँजते शब्दों, वाक्यांशों की आवृत्ति द्वारा, कभी ठहर-ठहर कर फिर कभी एक प्रवाह में आगे बढ़ते वाक्यों के द्वारा संगीतात्मक प्रभाव की सृष्टि की गई है। अतीत के दृश्य इस संगीतात्मक भाषा में मूर्त होकर बड़े मर्मस्पर्शी बन पड़े हैं।

इस तरह निर्मल ने जीवन में स्मृति की व्यापक भूमिका को काफी बड़े कैनवास पर उकेरा है। उनकी कहानियों में स्मृति द्वारा जहाँ अपने खोये हुये समय को पाने की कोशिश की गयी है वहीं वह आत्म से संवाद का माध्यम भी बना है। निर्मल के स्मृति विमर्श में एक ओर मृत्यु की छायाएँ हैं तो वहीं दूसरी ओर प्रेम के अंतरंग क्षणों का पुनर्सृजन भी। स्मृति के सहारे अकेलेपन के दंश से मुक्ति पाने की कोशिश भी है। स्मृति के बहाने प्रकृति और मनुष्य के रिश्ते को भी चित्रित किया गया है। निर्मल की कहानियों में चरित्र और कथानक का विकास ही प्राय: स्मृति के सहारे हुआ है। स्मृति का इतनी व्यापक सृजनात्मकता हिन्दी कहानी में दुर्लभ है।

**संदर्भ**


1. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2008, पृ० 9-10
2. वही, पृ. 10

3. कव्वे और काला पानी, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2007, पृ० 82
4. वही, पृ. 84
5. वही, पृ. 12
6. निर्मल वर्मा, सं० अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 1999, पृ० 180
7. सूखा तथा अन्य कहानियाँ, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2008, पृ० 241-242
8. पिछली गर्मियों में, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं० 2004, पृ० 32
9. बीच बहस में, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2010, पृ० 33-34
10. जलती झाड़ी, वही, पृ० 55
11. पिछली गर्मियों में, वही, पृ० 33
12. परिंदे, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं० 2008, पृ० 25
13. वही, पृ. 132
14. जलती झाड़ी, वही, पृ० 39-40
15. संसार में निर्मल वर्मा, सं० गगन गिल, रेमाधव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, नोएडा, सं० 2006, पृ० 96
16. सूखा तथा अन्य कहानियाँ, वही, पृ० 234 इन गीतों को देखकर यह कहा जा सकता है कि इन जातियों का जीवन अत्यन्त कठिन था। अब यह कहना कि जाति व्यवस्था ही इसके लिए जिम्मेदार थी, यह इन गीतों का एक आधुनिक पाठ हो सकता है। कौन इतना कठिन जीवन जीना चाहेगा? किन्तु इन श्रमजीवी जातियों को हमारा लोक मानस भरपूर सम्मान देता था, यह स्वर भी इन गीतों में मौजूद है इसे नकारा नहीं जा सकता है किन्तु इसके आधार पर जाति व्यवस्था को जस्टिफाई नहीं किया जा सकता। जाति व्यवस्था भारतीय समाज का ऐसा दंश है जिसका जहर आज तक व्याप्त है और यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है।

✧ ✧ ✧

Mob. : 9899920027, E-mail : sandeepjaiswal2007@gmail.com

विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में लेख और कविताएँ प्रकाशित सम्प्रति श्याम लाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में अस्टिेंट प्रोफेसर हैं।

# आत्मकथा की संस्कृति और मुर्दहिया

प्रकाश चन्द्र

**आजादी से पहले हिंदी साहित्य में आत्मकथा एक विधा के रूप में आकार ग्रहण करती है । आत्मकथा के विकास के आरंभिक वर्षों में सवर्ण आत्मकथाओं का ही वर्चस्व रहा उसमें भी पुरुष आत्मकथाओं का ही । हाशिए के समाज के द्वारा हिंदी में आत्मकथा लेखन न के बराबर रहा । लेकिन हिंदी के बरक्स अन्य भाषाओं में ये स्थिति नहीं थी वहाँ स्त्रियों और दलित रचनाकारों के द्वारा आत्मकथा लेखन किया गया ।**

हर सत्ता का इतिहास निर्धारित होती है और सत्ता हमेशा इतिहास को अपने मुताबिक निर्धारित करने की कोशिश भी करती है। हमेशा से इतिहास उन्हीं के पक्ष में खड़ा रहा जिनका वर्चस्व रहा और जो सत्ता में रहे । मौन व शोषित जातियों का इतिहास कभी नहीं लिखा गया । लेकिन आधुनिक युग में सदियों से मौन व शोषित जातियों ने साहित्य के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त किया । जिसके लिए उन्होंने साहित्य की एक विधा 'आत्मकथा' को चुना । यह सिर्फ साहित्य रचना या स्व की अभिव्यक्ति का मसला ही नहीं था बल्कि एक बनी बनाई और हजारों लाखों सालों से स्थापित सत्ता को चुनौती देना था । यह चुनौती थी उस द्विज व्यवस्था को जिसने हमेशा से ज्ञान पर कब्जा रखा और अपनी सत्ता कायम की । जब शोषित समाज ने स्वयं को दर्ज किया तो बनी बनाई सत्ता की चूलें हिलने लगी और दलित साहित्य पर कई तरह के आरोप लगाए गए । लेकिन दलित रचनाकारों ने इन आरोपों का प्रतिउत्तर अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति से दिया उन्होंने स्व की रचना के माध्यम से अपना भोगा और जिया इतिहास रचा । राहुल सिंह ने इसीलिए दलित 'आत्मकथाओं' को 'पर्सनल हिस्ट्री' कहा है । राहुल ने लिखा है कि दलित साहित्य न सिर्फ 'व्यवस्था' को प्रश्नांकित और उसकी पुनर्रचना पर बल देने वाला साहित्य है, बल्कि प्रतिरोध और परिवर्तन कि मानसिकता निर्मित करने का एक जरिया भी है। इस

साहित्य के अंतर्गत आने वाली आत्मकथाओं में पाई जाने वाली दो विशेषताओं को मिलाकर इसे एक किस्म कि 'पर्सनल हिस्ट्री' भी कह सकते हैं । 'पर्सनल' आत्मकथाकार के जीवन कि यातनाओं का शब्दबद्ध समुच्चय होने के कारण और 'हिस्ट्री' उस यातना के एक सुनिश्चित देश-काल में घटित होने के कारण। यह सही है कि ये आत्मकथाएँ 'पर्सनल हिस्ट्री' है लेकिन इसके साथ ही ये कहीं न कहीं 'पर्सनल ट्रेजडी' भी हैं ।

आत्मकथा 'स्व' व निजी अनुभवों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। साथ ही 'स्व' का विस्तार और 'स्व' से सामाजिक होने की प्रक्रिया भी। आत्मकथा विधा के रूप में 'न्यूट्रल' विधा है जिसमें स्वयं विषय नरेटर होता है। हिंदी साहित्य में आत्मकथा का विधा के रूप में विकास 'बनारसीदास जैन' की आत्मकथा 'अर्धाकथानक' से माना जाता है। इसके बाद हिंदी साहित्य में अनेक चर्चित आत्मकथाएं लिखी गई जिनमें निजी अनुभवों के साथ-साथ एक विशिष्टता बोध भी रहा। दरअसल आत्मकथा से जिस नैतिक ईमानदारी की अपेक्षा की जाती है वह इन आत्मकथाओं में कम ही देखने को मिलती है । रूसो ने आत्मकथा को 'फैशन्स' नाम दिया तो उसके पीछे का भाव था, स्वीकार्य करने का साहस लेकिन हिंदी में जो भी आत्मकथाएँ खास कर सवर्ण पुरुषों के द्वारा लिखी गई उनमें यह स्वीकार्य का साहस नहीं दिखाई देता । हिंदी की आत्मकथाएं ज्यादातर महानता बोध से ग्रसित हैं । चेखव आत्मकथाओं से घृणा करते हैं, और कहते हैं कि 'आत्मकथाओं में बचपन से ही अपनी महानता के सूत्र तलाश करने की प्रवृति होती है।' हिंदी में दलित और स्त्री आत्मकथाओं के आने से पहले यह प्रवृति प्रबल रूप में देखी जा सकती है ।

आजादी से पहले हिंदी साहित्य में आत्मकथा एक विधा के रूप में आकार ग्रहण करती है । आत्मकथा के विकास के आरंभिक वर्षों में सवर्ण आत्मकथाओं का ही वर्चस्व रहा उसमें भी पुरुष आत्मकथाओं का ही । हाशिए के समाज के द्वारा हिंदी में आत्मकथा लेखन न के बराबर रहा । लेकिन हिंदी के बरक्स अन्य भाषाओं में ये स्थिति नहीं थी वहाँ स्त्रियों और दलित रचनाकारों के द्वारा आत्मकथा लेखन किया गया । जिसका कारण शायद सामाजिक व साहित्यिक परिवेश हो सकता है । दरअसल हर समय के अपने आग्रह होते हैं जिनमें मुख्य व गौण जिनके अनुरूप जाने-अनजाने में साहित्यिक लेखन होता है (जिन्हें साहित्य में प्रमुख और गौण चिंताएँ भी कहा जाता है) । आजादी से पहले साहित्य का मुख्य आग्रह या चिन्ता देश की स्वतन्त्रता थी और अन्य जैसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता जैसे प्रश्न गौण आग्रह थे, लेकिन आजादी के बाद गौण आग्रह मुख्य आग्रह हुए जिसका परिणाम हम अस्मितावादी आंदोलनों के उभार के रूप में देख सकते हैं। इन आंदोलनों के उभार में स्वाधीन भारत की राजनैतिक परिस्थितियों व भारतीय सामाजिक संरचना के साथ-साथ शीत युद्ध का बड़ा योगदान रहा। अस्मितावादी आंदोलनों के उभार से हिंदी साहित्य में हाशिए के समाज पर लेखन और चिंतन आरंभ हुआ जिसका केंद्र बिन्दु रहा दलित, स्त्री व आदिवासी लेखन। यह लेखन सामाजिक और मानसिक शोषण के खिलाफ अपनी पीड़ा व अनुभवों को सार्वजनिक करने का एक माध्यम था। इस लेखन को पश्चिम में चल रहे अस्मितावादी आंदोलन व लेखन ने भी प्रेरित किया। जिसका परिणाम था कि हमें अचानक

अपने-अपने पिंजर (मोहन दास नैमिशराय), मैं भंगी हूँ (भगवान दास), जूठन (1997), दोहरा अभिशाप (1999), तिरस्त (सूरजपाल चौहान), झौपड़ी से राजभवन (माता प्रसाद), मेरा बचपन मेरे कंधों पर (श्यौराज सिंह बैचेन), शिकंजे का दर्द (सुशीला टाकभौरे) और मुर्दहिया, मणिकर्णिका (तुलसीराम) आदि दलित रचनाकारों की आत्मकथाओं से रु-ब-रु होने का मौका मिला। इन आत्मकथाओं में भारत का जातिगत अलिखित इतिहास दर्ज है। दलित आत्मकथाओं का हर पन्ना साहित्य की नैतिकता और शिष्टता को चुनौती देता है और आत्मकथाओं के जरिए समाज के जातिगत ढाँचे का वास्तविक चेहरा सामने आता है। जिसमें भोगा हुआ यथार्थ हर्फ दर हर्फ इस समाज से सवाल सा करता है ।

भोगे हुए यथार्थ को रचनात्मकता में बदलना खासी जटिल प्रक्रिया भी है और दिलचस्प भी । दलित रचनाकारों ने इस भोगे यथार्थ को रचने की चुनौती को स्वीकारा और रचा । तुलसी राम की आत्मकथा मुर्दहिया इसी भोगे हुए यथार्थ की रचनात्मक अभिव्यक्ति है, जिसमें न तो आरंभ से ही महानता के सूत्र तलाशने की कोशिश की गई है न ही यह आत्मकथा पौरुष की शौर्य गाथा है। यह तो शोषित व साधारणजन का भोगा सत्य है जिसे रचनात्मकता में पिरोया गया है। राजेन्द्र यादव ने अपने एक साक्षात्कार में कहा कि सवर्णों की आत्मकथा तब लिखी गई जब सफलता के एक बिन्दु पर वे पहुंचे और दलित ने आत्मकथा उस समय लिखी जब वह चेतन हुआ और स्थितियों को समझने लगा यानि दलित होने का बोध ही उसकी आत्मकथा है । इस तरह से दलित की आत्मकथा अपने और अपनी स्थितियों को समझने की प्रक्रिया है जबकि सवर्णों की आत्मकथा अपनी सफलताओं और उपलब्धियों के आंकलन की नुमायशें हैं। राजेन्द्र यादव का यह कथन दलित आत्मकथाओं को लेकर उठने वाले कई सवालों का जवाब देता है, जिसमें पहला तो ये ही कि अभिव्यक्ति के लिए आत्मकथा विधा को ही क्यों चुना गया? इसके अतिरिक्त कहीं न कहीं सहानभूति और स्वानुभूति के प्रश्न का जवाब भी इस कथन से मिल जाता है। दलित रचनाकारों के द्वारा आत्मकथा विधा का चुनाव ही क्यों? और दलित साहित्य किसे कहा जाए? जैसे प्रश्नों पर तुलसी राम भी बड़े बेबाक ढंग से कहते हैं कि दलित साहित्य की सबसे मजबूत विधा के रूप में आत्मकथा विधा सामने आई है। आत्मकथा ज्यादा आने की एक वजह उसका सबसे बड़ा पाठक वर्ग का होना भी है। आत्मकथा लेखन जब से शुरू हुआ है, दलितों के एक हिस्से ने यह दावा करना शुरू कर दिया है कि दलित साहित्य सिर्फ दलित ही लिख सकते हैं। मैं इस अवधारणा को गलत मानता हूँ। इसी अवधारणा को आगे बढ़ाया जाए तो इसका मतलब यह हुआ कि सारी गैरदलित वर्ण व्यवस्था विरोधी परंपरा से हम इनकार कर रहे हैं । .....वर्ण व्यवस्था के विरोध में जो भी साहित्य लिखा जाएगा, उसे दलित साहित्य कहा जाएगा। तुलसीराम की दृष्टि में दलित साहित्य का फलक व्यापक था ।

तुलसीराम की आत्मकथा दलित आत्मकथाओं में जूठन के बाद सबसे चर्चित आत्मकथा रही है। यह आत्मकथा 'दलित आत्मकथा' होने से ज्यादा अपनी आत्मकथा की संस्कृति के लिए चर्चित रही है। आत्मकथा में क्या लेना है क्या नहीं लेना है और क्या दिखाना है और कितना दिखाना है बड़ा महत्वपूर्ण होता है। यथार्थ को जब रचनात्मकता में ढाला जाता है तो वह कोरा

यथार्थ ही नही होता । इस ढालने की प्रक्रिया में भाषा की अहम् भूमिका होती है । मुर्दहिया अपनी भाषा के लिए भी जानी जाती है, भाषा इस आत्मकथा की 'यू.एस.पी'. है । मुर्दहिया में वह सब कुछ है जो अन्य दलित आत्मकथाओं में है, लेकिन उसके बावजूद मुर्दहिया में बहुत कुछ वैसा भी है जो अब तक की अन्य दलित आत्मकथाओं में देखने को नहीं मिलता है । इस आत्मकथा का शीर्षक ही काफी कुछ बयां करता है । आत्मकथा का शीर्षक जूठन, तिरस्त, दोहरा अभिशाप, अछूत, आदि की तरह शोषित प्रवृति को उजागर नहीं करता बल्कि मुर्दहिया शोषण की पूरी संस्कृति को अभिव्यक्त करता है । मुर्दहिया सिर्फ स्थान वाचक नहीं है बल्कि जैसा कि लेखक कहता है यह 'बहुद्देशीय कर्मस्थली' भी है । तुलसी राम मुर्दहिया की पूरी संस्कृति को भूमिका में कुछ यूं कहते हैं हमारे गाँव की 'जिओपालिटिक्स' यानी 'भू- राजनीति' में दलितों के लिए मुर्दहिया एक सामरिक केंद्र जैसी थी । जीवन से लेकर मरन तक की सारी गतिविधियाँ मुर्दहिया समेट लेती थी । सबसे रोचक तथ्य यह है कि मुर्दहिया मानव और पशु में कोई फर्क नहीं करती थी । वह दोनों कि मुक्तिदाता थी । विशेष रूप से मरे हुए पशुओं के मांसपिंड पर जूझते सैकड़ों गिद्धों के साथ कुत्ते और सियार मुर्दहिया को एक कला स्थली के रूप में बदल देते थे। ....मुर्दहिया सही मायनों में हमारी दलित बस्ती की जिंदगी थी। मुर्दहिया उस बस्ती की पूरी 'संस्कृति' का द्योतक है। मुर्दहिया कर्मस्थली भी है और 'कला स्थली' भी जिसके साथ लेखक का जीवन विभिन्न परिस्थितियों से जूझते हुए आकार ग्रहण करता है ।

बचपन एक 'यूटोपिया' की तरह होता है । व्यक्ति हमेशा अपने बचपन को याद कर खुश होता है और जीवन का अविस्मरणीय समय उसे मानता है वह हर बार बचपन की तरफ लौटने की बात करता है। क्या दलित बच्चों का बचपन भी यूटोपिया है? कोई दलित व्यक्ति अपने बचपन के बारे में सोच कर खुश होता है? क्या वह भी बचपन में वापस लौटने के बारे में सोचता है? इन सारे प्रश्नों के उत्तर दलित आत्मकथाओं में चित्रित बचपन के जीवन से मिल जाते हैं । जहाँ बचपन यातनाओं का घर है । मुर्दहिया में हम देख सकते हैं कि बचपन अभावों से भरा है जिसमें चेचक की बीमारी और उससे चेहरे पर छेद तथा एक आँख की रोशनी जाना सभी कुछ मात्र तीन वर्ष की उम्र में घटित होता है- भारत के अंधविश्वासी समाज में ऐसे व्यक्ति 'अशुभ' की श्रेणी में हमेशा के लिए सूचीबद्ध हो जाते हैं । ऐसी श्रेणी में मेरा भी प्रवेश मात्र तीन साल की अवस्था में हो गया । अत: घर से लेकर बाहर तक सबके लिए मैं 'अपशकुन' बन गया। बचपन की यह तस्वीर दलित बचपन के संघर्षों को व्यक्त करती है । यह संघर्ष घर से लेकर समाज और सामाजिक संस्थाओं जैसे- स्कूल आदि में बचपन से ही आरंभ हो जाता है । दलित बचपन के संदर्भ में मुकेश मानस लिखते हैं कि दलित बचपन एक अलहदा बचपन है । यह भारतीय बचपन की 'गौरवशाली' इमारत को ध्वस्त कर देता है। दलित बचपन भारत के बचपन का जो नया दृश्य प्रस्तुत करता है उससे बचपन के प्रति घृणा पैदा होती है । यह घृणा असल में भारतीय समाज की अमानवीय और विषमतापूर्ण सभ्यता और संस्कृति के प्रति है । जो बचपन का गुणगान करने के आदी हैं । ..... दलित बचपन में प्रवेश के लिए बहुत ज्यादा संवेदनशील और मानवीयता से परिपूर्ण हृदय चाहिए। बचपन की ये विडंबनाएँ सभी दलित आत्मकथाओं के पन्नों पर अंकित मिलेंगी। यह भारतीय समाज की एक सच्चाई है, जहाँ बचपन बोझ है, घृणा है, जिसका एकमात्र कारण है, किसी खास

जाति में पैदा होना ।

भारतीय सामाजिक संरचना में जाति की अहम् भूमिका है । इस जातीय व्यवस्था को लेकर अंबेडकर ने काफी चिंतन किया । अंबेडकर इस जातीय व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए एक प्रश्न उठाते हैं कि भारत में दलितों की स्थिति क्या गुलामों से बदतर नहीं है? एक गुलाम तो अपनी गुलामी के खिलाफ लड़ सकता है और मुक्ति पा सकता है पर क्या एक जन्मना दलित को जाति की बेड़ियों से मुक्ति मिल पाई ? अंबेडकर के इस सवाल का उत्तर दलित आत्मकथाओं को पढ़कर देना मुश्किल है । समाज में जातीय दंश बहुत गहरे तक धसा है, इतनी जल्दी इससे मुक्ति नहीं मिल सकती है । इस जातीय दंश से हर दलित लेखक का जीवन जुड़ा है । दलितों के उत्पीड़न में सामाजिक संस्थाओं के साथ-साथ शैक्षणिक संस्थाओं का भी बड़ा योगदान रहा है । इन संस्थाओं पर भी आरंभ से ही द्विज जातियों का कब्जा रहा । ज्ञान हांसिल करने के लिए दलित समाज के बच्चों को कितने कष्ट सहने पड़ते हैं यह हम सभी दलित आत्मकथाओं में देख सकते हैं। जूठन में शैक्षणिक संस्था के जातिगत चरित्र का ओमप्रकाश वाल्मीकि ने गहराई से चित्रण किया है । जिसमें चूहड़े का बच्चा क्या पढ़ेगा से लेकर स्कूल की सफाई तक के कई चित्र मौजूद हैं । मुर्दहिया में भी इस प्रवृति के कई चित्र मौजूद हैं । मास्टर साहब का दलितों के बच्चों को अलग पंक्ति में बैठाना और गुस्से में दलित बच्चों को 'चमरकिट' कहना शैक्षणिक संस्थानों के जातिगत चरित्र को दिखाता है। जिसका स्वरूप आज भी थोड़ा बहुत बदलाव के साथ वैसा ही है । तुलसीराम अपने प्राइमरी स्कूल के संदर्भ में लिखते हैं कि पहली पंक्ति रोल नंबर एक से शुरू होकर तेरह पर समाप्त हो गई। शेष दो पंक्तियों में इसी क्रम में पंद्रह-पंद्रह बच्चे बैठते थे । मेरा नाम और स्थान पहली कतार में रोल नंबर पाँच के साथ होता था । ..... शीघ्र ही इस तेरह का रहस्य उजागर हो गया । हम सभी दलित थे । मुंशी जी कि उपस्थिति में हमें कोई अन्य बच्चा नहीं छूता था। बौद्धिक समाज भी जाति से ऊपर नहीं उठा है यह घटना भले ही 30-40 वर्ष पुरानी हो पर आज भी ऐसी मानसकिता बौद्धिक समाज में व्याप्त है इसे नकारा नहीं जा सकता है । इस तरह के भेद-भाव ने जहाँ द्विज जातियों के बच्चों में बचपन से ही दलितों के प्रति भेदभाव और घृणा को पैदा किया तो वहीं दलित बच्चों में अपमान और निम्नता का भाव पैदा किया । इस प्रक्रिया में भूमिका निभाई उस बौद्धिक समाज ने जिससे आशा थी कि वह इस जातिगत ढांचे को तोड़ने में सहयोगी की भूमिका निभाएगा।

आत्मकथा भोगे हुए जीवन की रचनात्मक कथा होती है । मुर्दहिया भी इसी 'पैटर्न' की आत्मकथा है लेकिन इसमें सिर्फ भोगा हुआ यथार्थ ही नहीं है बल्कि उस समय का बनता और घटित होता यथार्थ भी है । तुलसीराम उन सारी स्थितियों को एक समाजचेता व्यक्ति के रूप में देखते हैं । जिसका परिणाम है कि मुर्दहिया में सिर्फ शोषण, हिंसा, अपमान, अत्याचार ही नहीं है बल्कि मानवीय जीवन के अन्य पहलू भी उभरे हैं । तुलसीराम ने उन प्रसंगों को भी जिनमें सवर्ण जातियों के लोगों ने उनकी मदद की (संकठा सिंह जो एक क्षत्रिय जमीदार का बेटा था। ... मेरे लिए कक्षा एक में संकठा सिंह मुंशी जी से कहीं ज्यादा सफल शिक्षक सिद्ध हुए।) उतनी ही सहजता से व्यक्त किया है जितना की अन्य प्रसंगों को किया है । इसी तरह के कई प्रसंग है जो इस आत्मकथा को अन्य आत्मकथाओं से अलगाते भी हैं । आत्मकथा के साथ ही यह आत्म चित्र भी है । तुलसीराम ने घटनाओं का चित्रण ऐसे किया जैसे घटनाएँ किसी वृतचित्र की भांति आँखों

के सामने चल रही हों । तुलसीराम जब अपने जन्म की कथा बताते हैं तो अचानक ही 'थ्री इडियट्स' फिल्म का दृश्य आँखों में आता है जिसमें बच्चे के पैदा होते ही उसे इंजीनियर और डॉक्टर बनाने की बात माता-पिता करते हैं । तुलसीराम जब पैदा होते हैं तो उनके माता-पिता उनको एक सिद्धहस्त 'मछरमरवा' (मछली पकड़ने में माहिर व्यक्ति) के रूप में देखना चाहते हैं । एक तरफ पुत्र का भविष्य इंजीनियर और डॉक्टर के रूप देखा जा रहा है तो दूसरी तरफ मछरमरवा के रूप में । इस पर लेखक स्वयं आत्मकथा में ही टीप करता है कि मेरे माँ-बाप की सर्वोच्च आकांक्षाओं की पहुँच मुझे एक सिद्धहस्त 'मछरमरवा' के रूप में देखने तक ही सिमटकर रह गई थी । जाहिर है, एक दलित खेत मजदूर और मजदूरनी की आकांक्षा इससे ज्यादा और क्या हो सकती थी? भविष्य की आकांक्षा और उसे अभिव्यक्त करने वाली भाषा और प्रसंगों के अनुरूप ऐसे ही कई सूत्र हैं जो इस आत्मकथा को अन्य आत्मकथाओं से अलग करते हैं । मुर्दहिया आत्मकथा की नई संस्कृति का विकास करती है, जिसमें बिना महानता बोध के और बिना हीनता बोध के एक तटस्थ दृष्टि से आत्म का अवलोकन संपूर्णता में मौजूद है । गाँव की लोक संस्कृति से लेकर अंधविश्वासों और आस्था की चरम सीमा तक देवीदेवताओं और भूतों की मान्यता, अकाल और गाँवों का जीवन जिसमें भूख किसी भी कल्पना से परे है और जीवन संघर्षों तले दम तोड़ता है । विषम और भयावा स्थितियों के बावजूद लेखक मुर्दहिया से 'मणिकर्णिका' तक की यात्र करता है यह जीवन और संघर्षों की यात्र है किसी व्यक्ति की यात्रा नहीं।

कुल मिलाकर देखा जाए तो जहाँ आत्मकथा में पहली पंक्ति से ही महानता के बीज बोए जाते हैं वहीं इस आत्मकथा की शुरुआत 'मूर्खता मेरी जन्मजात विरासत थी' जैसी पंक्ति से होती है । मुर्दहिया तुलसीराम की आत्मकथा नहीं बल्कि उस पूरे परिवेश का 'कथन' है जिसका वर्णन आत्मकथा में किया गया है । इस आत्मकथा की खूबी यह है कि इसमें जीवन एकाकी नहीं है बल्कि संपूर्णता में है । दार्शनिक विचारों से लेकर व्यावहारिक विचारों तक का समावेश बहुत ही सहज ढंग से किया गया है । बुद्धिज्म से लेकर मार्क्सवाद और अंबेडकर के विचारों को लेखक बहुत ही सहजता से ग्रहण करता है । किसी भी कथा के लिए हिन्दू पुराणों की तरफ लौटने के बजाय तुलसीराम बुद्ध के यहाँ जाते हैं । इस तरह यह आत्मकथा वह साहस और ईमानदारी का परिचय देती है जिसकी जरूरत आत्मकथा रचना के लिए होती है । आत्मकथा की जो संस्कृति हिंदी में आधी अधूरी ही पनप पाई थी उसे यह आत्मकथा एक मजबूत आधार देती है और आत्मकथा की संस्कृति का विकास भी करती है ।

✧ ✧ ✧

सम्पर्क : आवास सं.–42, प्रथम तल, पश्चिम संत नगर ग्राम, गली नं0–20,
BLK-A-2 बुरारी सीटी, दिल्ली – 110084
फोन. 99657062744, ई–मेल : prakashupretti@gmail.com

विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में आलेख प्रकाशित वर्तमान में महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा से शोध कार्य चल रहा है।

# हिंदी साहित्य में नारी चिंतन

करूणा पीटर

**हिंदी उपन्यास में विगत पचास वर्षों में नारी की स्थिति में आए बदलाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। आजादी के बाद के उपन्यासों में नारी के मात्र भोग की वस्तु होने की नियति का चित्रण किया गया। 'डार से बिछुड़ी' कृष्णा सोबती के उपन्यास की पात्र पाशो पति की मृत्यु के बाद बरकत दीवान के द्वारा शोषित होती है और फिर कर्ज की रकम भरपायी करने के लिए महाजन के यहाँ भेज दी जाती है। जहाँ उसे महाजन एवं उसके बेटों की सेवा द्रौपदी बनकर करना पड़ता है।**

साहित्य समाज के बदलते स्वरुप, रुचियों और परिस्थितियों का आईना होता है। साहित्य के माध्यम से हम समाज के वास्तविक स्वरूप से रू-ब-रू हो पाते हैं। हमारे भारतीय समाज की संरचना कौटुम्बीय भाव के कारण अधिक सघन है। भारतीय सामाजिक संरचना में स्त्रियों का पूजनीय स्थान था। रेखा कस्तवार का मानना है कि उत्तर वैदिक काल में पिंडदान तथा वंश परंपरा के कारण पुरुषों की प्रबलता बढती गयी। मनुस्मृति तक आते-आते नारी की स्थिति निम्न होती गई। मध्यकाल में मुगलों के आक्रमण के कारण सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक स्थिति में बदलाव आया और नारियां पुरुषों के अधीनस्थ हो गई। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि सभी प्रकार के अधिकार पुरुषों के पास होने से पितृसत्तात्मक समाज का निर्माण हुआ। नारी का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा। समाज में स्त्री का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, मानसिक शोषण होता रहा। स्त्री दमनकर्ताओं से मुक्ति की चेष्टा के तहत प्रयास करती रही लेकिन वह पूर्णत: कभी सफल नहीं हुई। इस प्रकार समाज में स्त्री की स्थिति सदा से ही निम्न तथा दयनीय रही है। नारी एक वस्तु के रूप में आंकी गई। उसकी स्थिति में सुधार के अनेक प्रयास किए गए परन्तु उसकी स्थिति यथावत बनी हुई है।

रेखा कस्तवार ने अपनी पुस्तक 'स्त्री चिंतन की चुनौतियां' नामक पुस्तक के अध्याय-एक 'समकालीनता की अवधारणा एवं स्त्री विमर्श के सरोकार' में इसका चित्रण किया है : -

'विश्व के अधिकांश भागों में स्थापित पूंजी व्यवस्था पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने सामाजिक ढ़ांचा इस प्रकार निर्मित किया कि स्त्री व्यक्ति से वस्तु में बदल गई। परिवार में उसकी स्थिति सम्पत्ति और घर से बाहर वस्तु के रूप में आंकी गई।' 1

उक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि घर की चारदीवारी में स्त्री निजी संपदा के समान सुरक्षा प्राप्त करती है और बाहर वह एक भोग की वस्तु के रूप में समझी जाती है। वस्तुत: घर और बाहर दोनों जगह वह एक वस्तु के रूप में ही दृष्टिगोचर होती है। सती प्रथा, बाल विवाह, परदा प्रथा, बेमेल विवाह आदि कुप्रथाओं के प्रभाव स्वरुप स्त्रियों की स्थिति दयनीय थी। नवजागरण के साथ ही स्त्रियों की स्थिति में क्रमिक सुधार देखने को मिलता है। चुकी साहित्य में समाज का ही चित्र अंकित होता है। अत: इस काल के साहित्य में नारियों के प्रति ष्टिकोण में भी बदलाव होना आरम्भ हुआ। डॉ गोपाल राय ने अपनी पुस्तक 'हिंदी उपन्यास का इतिहास' में निष्कर्ष रूप शीर्षक 'और अंत में ..स्त्री विमर्श' उपशीर्षक के अंतर्गत अपना मत रखते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि-

'आजादी मिलने और विशेषकर भारतीय संविधान लागू होने के बाद भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति में जबरदस्त बदलाव आ गया।.....इस दशक में स्त्री शिक्षा के प्रति अभूतपूर्व जागरूकता तो पैदा हुई ही, पर सबसे बड़ी घटना 'हिन्दू कोड बिल 'के पारित होने के रूप में घटी। इस कानून के तहत भारतीय नारी को सदियों से चले आ रहे अनेक आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक पक्षपातों से मुक्त कर दिया।...जिससे समाज में नारी के स्थिति रातोरात बदल गयी।..... इसकी अभिव्यक्ति आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक, सांस्तिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रें में हुई।'2

इन घटनाओं के फलस्वरूप नारी के प्रति पौरुषेय धारणा में भी बदलाव आना आरम्भ हुआ। यद्यपि 21वीं सदी में भी नारी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही है।

वैसे तो हिंदी साहित्य में आरंभ से ही स्त्रियों का चित्रण होता रहा है। आजादी पूर्व के उपन्यासों में किसानों के बाद स्त्री की ही समस्याओं को ही प्रमुख स्थान दिया गया। आजादी के बाद के दशक में प्रबुद्ध उपन्यासकारों द्वारा नारी की पीड़ा का संवेदनापूर्ण अंकन हुआ। उन्नीसवीं शती के अंतिम दशक और बीसवीं शती के प्रारंभिक दशक में रचित साहित्य का विश्लेषण करते हुए 'रोहिणी अग्रवाल' अपनी बेबाक राय देती हैं कि-

'इसके दौरान हिंदी पट्टी में रचा गया अधिकांश स्त्री लेखन पुरुष निर्दिष्ट सती स्त्री के दायित्वों और व्यक्तित्वों को परिभाषित करता है और एक परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। भारतीय नवजागरण की कोख से जन्मा राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन मात्र सैद्धांतिक तौर पर स्त्री की मनुष्यता को स्वीकार करता है लेकिन ' मनुष्यत्व ' का दर्जा देने के लिए कतई तैयार नहीं है।'3

आधुनिक हिंदी साहित्य के नारियों में विचारों का खुलापन देखने को मिलता है वह झिझकती नहीं है। मध्य वर्ग के नारी चरित्र मूलत: शिक्षित, अशिक्षित, पारम्परिक और विद्रोही है।

इस वर्ग के नारी चरित्र बाधा से घिरे रहने के बाद भी ऊंच जीवन चाहते एवं महत्वाकांक्षी होते हैं।

अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' की पात्र रेखा अपने पहले पति से अलग हो गयी है। उसका भुवन से अन्तरंग सम्बन्ध है। वह भुवन के बच्चे की माँ होने को है। पर नहीं, वह गर्भपात करा लेती है और भुवन को छोड़कर किसी और से ब्याह कर लेती है।' 4

समाज में यथार्थ और आदर्श दोनों का महत्व है तथा उनमें विभिन्नताएं भी हैं। हिंदी उपन्यासों में भी यथार्थवादी और आदर्शवादी नारियों की प्रधानता रही है। प्रेमचंद के 'गोदान' उपन्यास में धनिया का निर्भीक तथा बेबाक रूप देखने को मिलता है। वह सामाजिक नियमों के खिलाफ होकर गर्भवती झुनिया को अपने घर में शरण देने से हिचकिचाती नहीं है और समाज के सामने एक नवीन आदर्श स्थापित करती है।

'धनिया ने जैसे पत्थर की लकीर खींचते हुए कहा; तो महतो, मेरी भी सुन लो जो बात तुम चाहते हो , वह न होगी। सौ जनम न होगी। झुनिया हमारी जान के साथ है। तुम बैल ही तो ले जाने को कहते हो, ले जाओ, अगर इससे तुम्हारी कटी हुई नाक जुड़ती हो, तो जोड़ लो, पुरखों की आबरू बचती है, तो बचा लो। झुनिया से बुराई जरूर हुई।.....तो मुझे उसपर दया आ गई।'5

गोदान में झुनिया और धनिया के माध्यम से प्रेमचंद ने महिलाओं के सशक्तिकरण को दर्शाया गया है। समाज में सदा ही स्त्रियों को शोषित करने का प्रयत्न किया गया है। यदि वह गरीब हो तो दबाव और बढ़ जाता है। गोदान में हम पाते हैं कि आर्थिक रूप से कमजोर धनिया हर हाल में अपने आदर्शों की रक्षा करती है। समाज में ऐसी कई स्त्री मिल जाती हैं जो अपने आत्मविश्वास के कारण निर्भीक होकर जुल्म के खिलाफ आवाज बुलंद करती है। उसी प्रकार धनिया अपने निर्णय पर अटल रहते हुए सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने का प्रयास करती है।

जयशंकर प्रसाद 'कामयानी' के लज्जा सर्ग में मर्यादा के अंतर्गत नारी के कर्म को दर्शाया है। नारी के स्वेक्छाचारिणी न होकर मर्यादित होने से उसे सुख की प्राप्ति होती है। नारी के समर्पण में बलिदान की भावना होती है। वह हँसते हँसते अपना सर्वस्व न्योंछावर कर देती है। नारी तो श्रद्धा की मूरत होती है। अत: विश्वास के सहारे जीवन में अमृत की तरह बहती रहती है।

'नारी! तुम श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग ताल में,

पीयूष श्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।'6

हिंदी उपन्यास में विगत पचास वर्षों में नारी की स्थिति में आए बदलाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। आजादी के बाद के उपन्यासों में नारी के मात्र भोग की वस्तु होने की नियति का चित्रण किया गया। 'डार से बिछुड़ी' कृष्णा सोबती के उपन्यास की पात्र पाशो पति की मृत्यु के बाद बरकत दीवान के द्वारा शोषित होती है और फिर कर्ज की रकम भरपायी करने के लिए महाजन के यहाँ भेज दी जाती है। जहाँ उसे महाजन एवं उसके बेटों की सेवा द्रौपदी बनकर करना पड़ता है।

भागभरी, खरी बात कहता हूँ। सीधी राह चलेगी तो भला! तीन-तीन पहरू हैं, भूलकर भी ड्योढ़ी से बाहर पाँव न रखना समझ रख बीबी, बरकते को घड़ा भर मोहरें दी हैं, तू अब इस घर की दात!7

वास्तव में नारी कर्ज की वसूली के रूप में नहीं भेजी जाती है बल्कि एक वास्तु के रूप में बेच दी जाती है। महाजन उसका शारीरिक तथा मानसिक शोषण करता है। वह पशु की तरह चुपचाप उनकी इच्छानुसार काम करने को विवश है। समाज में नारी शोषित एवं प्रताड़ित होती रहती है। यशपाल ने ' झूठा सच' (1958-60) नामक उपन्यास में स्त्री की विवशता की कहानी को बड़े सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है। धर्मवीर भारती की कहानी 'बंद गली का आखिरी मकान' में पात्र गुलकी पति द्वारा प्रताड़ित है। उसके बाँझ होने की बात कह उसका पति दूसरा विवाह कर सौत घर ले आता है और वह उसे अपनी तकदीर समझ उसके साथ समझौता करती है। कहानी में वह आदमी कहता है ;

'इसे ले तो जा रहे हैं , पर इतना कहे देते हैं, आप भी समझा दें उसे कि रहना हो तो दासी बनकर रहे। न दूध की न पूत की, हमारे कौन काम की, पर हाँ औरतिया की सेवा करे, उसका बच्चा खिलावे , झाड़ू बुहारू करे तो दो रोटी खाय पड़ी रहे।.....' 8

समाज में पति द्वारा परित्यक्त स्त्री का कोई सम्मान नहीं होता है। इस समाज में स्त्री-ही-स्त्री की शत्रु बन उसपर लांछन लगाती तथा उसकी मजबूरी का फायदा उठती है। परित्यक्त स्त्री समाज की उलाहना एवं तिरस्कार सहने से अच्छा पति द्वारा अपमानित होना एवं उसकी गुलामी सहना उचित समझती है और खुद को नरक में झोंक देती है। ममता कालिया जी ने भी अपने उपन्यास 'बेघर' में नारी के प्रति समाज का क्या ष्टिकोण है, इसकी अभिव्यक्ति दी है। जिसमे नारी पुरुष के लिए उपभोग की वस्तु समझ ली गई है।

समाज में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। यह प्रतिक्षण विकास की ओर गतिमान है तथा नारी अपनी पहचान बनाने की ओर उन्मुख है। आज की नारियों में अपने भविष्य के प्रति स्वतन्त्र निर्णय लेने की क्षमता है। वह पूर्ण आत्मनिर्भर होकर आत्मविश्वास के साथ घर और बाहर के साथ सामंजस्य बनाने की शक्ति रखती है। आज की नारी पुरुषों की अनुगामिनी न होकर सहगामिनी बन गई है। ये नारी शिक्षित, योग्य तथा विकास की नारी संभावनाओं से परिपूर्ण है। कमलेश्वर के 'काली आंधी' की 'शाल्मली' अपने सरकारी पद और पति परिवार का ध्यान रखती है। वह अपने घर और बाहर दोनों में सामंजस्य बनाए रखती है। यह परिवर्तन साहित्य के माधयम से ही संभव है क्योंकि साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में निर्भीक होकर समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, अत्याचार, दुराचार जैसे विकराल समस्याओं के वास्तविक रूप को चित्रित किया है। लोकप्रिय लेखिका कृष्णा सोबती के उपन्यास 'मित्रो मरजानी', 'डार से बिछुड़ी', 'सूरजमुखी अँधेरे में' स्त्री पुरुष संबंधों पर आधारित बलात्कार की विभीषिका को दर्शाते हैं। डार से बिछुड़ी उपन्यास की पात्रा पाशो दीवान जी की मृत्यु के उपरांत बरकत दीवान के द्वारा शोषित होती है :-

'तेरा तो नाम चाम सब मेरा है री पगली ! और हाथ बढ़ा मेरा पल्ला खींच लिया।

दुपट्टा छोड़ हाथ पकड़ लिया, हाथ छोड़ मुझे अपनी ओर खींच लिया, ..... ऐसी पड़ी रही कि पानी की मार से गली गलाई काठ होऊं।'9

पति की मृत्यु के बाद स्त्री असुरक्षित हो जाती है। उसपर सबकी बुरी निगाह पड़ती है। उसका आत्मबल टूट जाता है। वह इतनी विवश और दुर्बल हो जाती है कि अपने प्रति हो रहे अत्याचार, शोषण के विरुद्ध प्रतिकार नहीं कर पाती। वह सारे जुल्म मौन होकर सहते जाना अपनी किस्मत मान लेती है। हिंदी उपन्यास में नारी आत्मनिर्भरता , सशक्त तथा अपने अधिकारों के प्रति सजग चरित्र के साथ उभरकर प्रकट हुई है। कुछ नारियां शिक्षित होने के बावजूद अनेक कष्ट सहने पर विवश हैं। झूठी इज्जत की खातिर अपनी बौद्धिकता से दूर समाजानुसार खुद को बनाने का प्रयत्न करती हैं तो कुछ विद्रोह करती है। सामाजिक रूढ़ियों को चुनौती देते हुए सामाजिक बंधन एवं मर्यादा से बेपरवाह अपने स्वाभिमान की रक्षा करती है। 'काली आंधी' की नायिका सामाजिक मर्यादाओं को तोड़कर राजनीति में प्रवेश कर उच्च पद और प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। अपने प्रगति और प्रशस्ति के मार्ग में वह किसी का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करती है।

उषा प्रियम्वदा के 'शेषयात्रा' की अनुष्का प्रणय के साथ प्रेम बंधन में बांधती है। वह शिक्षित है और उसमे नारी चेतना का विकास परिलक्षित है। ममता कालिया के 'बेघर' की नायिका बिना विवाह के ही शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करती है। कृष्णा सोबती के 'मित्रो मरजानी' की नायिका मित्रो में कामुकता स्पष्ट झलकती है। वह कहती है ;

'देवर तुम्हारा मेरा रोग नहीं पहचानता।... बहुत हुआ हफ्ते-पखवारे ....और मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास कि मछली-सी तडपती हूँ।' 10

इन नायिकाओं से स्पष्ट होता है कि नारी अपनी स्वतंत्रता के लिए सजग होकर अपनी इच्छाओं की अभिव्यक्ति में झिझकती नहीं है। अपने प्रेम एवं शारीरिक सम्बन्ध को लेकर नारी के विचारों में जो खुलापन आया। वह उसके मन में असंतोष की भावना को जन्म दिया। पारिवारिक कलह बढे तथा नारी के पतित होने की सम्भावना बढ़ गई। मित्रो मरजानी के मित्रो की कामासक्ति के कारण परिवार की शांति भंग होने लगती है।

'उड़े-उड़े, बिखरे बालों में सौहार्द-सी मंझली बहू सरदारी लाल से हाथ छुड़वाती थी और तहबन्द कसे सरदारी पटाक पटाक धौल जमाता था।.....मुंडी हिलाते-हिलाते जैसे धनवंती के गले से आवाज न निकलती हो पराई लड़की पर हाथ, सरदारी लाल?'11

नारी की स्वतंत्र चेतना, व्यक्तिगत रूचि, उसकी महत्वाकांक्षा, शिक्षा का प्रभाव इत्यादि ने उपन्यासों में नारी चरित्रों को बहुत अधिक विद्रोही बना दिया है। नारी पुरुष सम्बन्ध भावनात्मक आवेग तक सीमित न होकर शारीरिक अपेक्षाओं तथा आवश्यकताओं के रूप में सक्रिय है। पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होने के कारण नारी में अकेलापन देखने को मिलता है। इसका कारण शायद औद्योगीकरण, आर्थिक संकट तथा भोगवादी स्थिति भी है। 'रूकोगी नहीं राधिका' में उषा प्रियंवदा की पात्रा अपने को अपने अन्दर खोजती है। राधिका का नितांत अकेलापन नारी के

अकेलेपन की स्थिति को दर्शाता है।

'अँधेरे कमरे में, गुदगुदे पलंग में धंसी राधिका ने कितने ही दिन बिता दिए। धीरे धीरे उसे यह इस प्रकार की घटनाहीन, ऊब भरी दिनचर्या की आदत पड़ गई। उसी तरह जैसे अकेले "लैट में तख्त पर लेटे रहने की पड़ गई थी।'12

नारी अपने विचारों में स्वछंद तो हो गई पर वह अकेलेपन के कारण मानसिक तनाव को भी झेलने लगी।

मन्नू भंडारी के उपन्यास 'आपका बंटी' में नारी चारदीवारी से निकलकर कर्मक्षेत्र में खड़ी की गई है। एक शिक्षित युवती के वैवाहिक जीवन की त्रासदी एवं तलाक के ज्वलंत समस्या को दर्शाया गया है।

'वह फिर छली गई, वह फिर बेवकूफ बनाई गई। उसका रोम-रोम जैसे सुलगने लगा। वे बंटी को हॉस्टल भेजना चाहते हैं, शायद उसे भी धीरे धीरे कब्जे में कर लेना चाहते हैं। पर वह बंटी को कभी भी हॉस्टल नहीं भेजेगी। .....बंटी से न मिल पाने की वजह से अजय को जो यातना होगी उसकी कल्पना मात्र से उसे एक क्रूर सा संतोष मिलने लगा।'13

नारी स्वतंत्र विचारों के साथ अपने महत्वाकांक्षाओं को पूरा करती है किन्तु उसे सुख-शांति, आत्मसंतोष नहीं मिलता है। नारी कुंठित हो जाती है। अंतत: मनोवैज्ञानिक समस्याओं से जूझने लगाती है। स्वावलंबी होने पर कई बार नारी में अहं की भावना जागृत हो जाती है। इस कारण वह परिवार में तारतम्य स्थापित नहीं कर पाती और तलाक की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्री के अधिकारों के लिए जिस संघर्ष की शुरुआत प्रेमचंद की झुनिया से होती है वह आज के युग में आते आते एक स्वावलंबी, महत्वाकांक्षी, स्वच्छन्द नारी के सशक्त रूप में परिवर्तित होती हुई दृष्टिगोचर होती है। आज की नारियां झुकती नहीं वह अधिक विद्रोही दिखती हैं। नारी लेखन के दृष्टिकोण से कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, ममता कालिया आदि रचनाकारों के उपन्यासों, कहानियों की पात्र अपने अधिकार के प्रति अधिक जागरूक एवं सशक्त है। इतना ही नहीं आज के युग में नारी पुरुष सम्बन्ध भावात्मक आवेग से आगे बढकर शारीरिक अपेक्षाओं और आवश्यकताओं के रूप में भी सक्रिय है। एक ओर समाज के विभिन्न क्षेत्रें में नारियों का दखल बढ़ा है। जिसका जीवंत चित्र हमें हिंदी साहित्य में मिलता है। दूसरी ओर आंतरिक संघर्ष से जूझती महिलाओं की समस्याएँ, उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा उसके कारण उनके जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों, कुंठाओं, असंतोष, पारिवारिक कलह, अहं आदि मनोभावों का भी सजीव चित्रण हिंदी के रचनाकारों ने किया है। निश्चय ही नारी की व्यथा-कथा, उसके संघर्ष और बदलते सामाजिक स्थिति का जैसा चित्रण हिंदी साहित्य में हुआ है वह मात्र हिंदी ही नहीं अपितु विश्व साहित्य के लिए अमूल्य धारोहर सिद्ध होगा।

संदर्भ :-

1. स्त्री चिंतन की चुनौंतियां, रेखा कस्तवार, अधयाय-1, पहली आवृति-2009, राजकमल

प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 27

2. हिंदी उपन्यास का इतिहास, प्रो. गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, तीसरी आवृति- 2013, पृष्ठ- 418 - 419

3. समीक्षा, संपादक-सत्यकाम, सामयिक प्रकाशन-नई दिल्ली, त्रैमासिक पत्रिका- जुलाई-सितम्बर- 2014, पृष्ठ-24

4. कृष्णा सोबती के उपन्यासों के प्रमुख नारी चरित्र, डॉ. कैथरीना, जानकी प्रकाशन- पटना, प्रथम संस्करण- 2007, पृष्ठ-110

5. गोदान, प्रेमचंद, अनुपम प्रकाशन- पटना, संस्करण- 2014, पृष्ठ- 136

6. हिंदी कविता, कल से आज तक, कुमार सर्वेश, सार्थक प्रकाशन- दिल्ली, पुनः मुद्रण-2011, पृष्ठ -161

7. डार से बिछुड़ी, कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन-नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति- 2012, पृष्ठ- 82

8. बंद गली का आखिरी मकान, धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ- नई दिल्ली, सत्रहवां संस्करण- 2013,पृष्ठ-22

9. डार से बिछुड़ी, कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, दूसरी आवृतिः 2012, पृष्ठ- 75

10. मित्रो मरजानी, कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन- नई दिल्ली, तीसरी आवृति- 2013, पृष्ठ-20

11. वही, पृष्ठ 12

12. रुकोगी नहीं राधिका, उषा प्रियंवदा, राजकमल प्रकाशन- नई दिल्ली, पहली आवृति- 2013, पृष्ठ- 126

13. आपका बंटी, मन्नू भंडारी, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, छठी आवृति- 2013, पृष्ठ - 45-46

✧ ✧ ✧

लेखिका हिन्दी की शोधार्थी हैं एवं डॉन बॉस्को स्कूल में हिन्दी की अध्यापिका हैं।

# डा. शहनाज फातमी की कथा दृष्टि

रेणु कुमारी

**शहनाज़ फातमी के उपन्यास भी इसी प्रकार की एक कड़ी के रूप में उभर कर सामने आते हैं। इनके उपन्यासों में अपने समय के तीखे प्रश्नों से मुठभेड़ करने की प्रवृत्ति मिलती है। साली तारा और जीजा अकरम के नाजायज संबंधों ने जहाँ एक ओर चाँद के जीवन को बर्बाद कर दिया, वहीं दूसरी ओर आनेवाली पीढ़ियाँ भी बर्बादी और रूसवाई की गर्त मे समा गयीं। नर-नारी के संबंधों को अनुशासित करने के लिये समाज ने कई तरह की पाबन्दियाँ लगा रखी हैं।**

डॉ. शहनाज़ फातमी बिहार की ऐसी मौन निष्ठावान हिन्दी सेवी साहित्य-साधिका हैं, जिन्हें बिहार में हिन्दी-साहित्य और हिन्दू- मुस्लिम एकता का प्रचार करने का श्रेय प्राप्त है। डॉ0 शहनाज़ फातमी यह नाम एक सजग व्यक्तित्व तथा साहित्य संसार के एक चर्चित हस्ताक्षर का है। इन्हें अपने साहित्यिक एवं रचनात्मक अवदान के लिये अनेक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा सम्मानित किया जा चुका है जिनमें साहित्यश्री के अतिरिक्त प्रबुद्ध सांस्कृतिक मंच द्वारा 1992 में, कवि रमण ट्रस्ट द्वारा 1993 में तथा पं0 रामनारायण शास्त्री स्मारक द्वारा 1993 में पुरस्कार प्रदान किये गये हैं। इनकी प्रत्येक रचना में मानवीय मूल्यों के लिये संघर्ष की प्रेरणा छुपी होती हैं। इनकी कहानियों तथा उपन्यासों का मुख्य विषय समाज की छोटी-छोटी किंतु प्रेरणाप्रद घटनायें हुआ करती हैं। इनकी कहानियॉ (हिन्दी-उर्दू) पत्र-पत्रिकाओं एवं रेडियो के जरिये लोगों के बीच हमेशा प्रस्तुत होती रही हैं। इनकी पकड़ तीन भाषाओं (हिन्दी, उर्दू एवं अंग्रेजी) पर समान रूप से है। भारतवर्ष में उर्दू अदब के चार मजबूत स्तम्भ (खम्भे) माने जाते हैं- मीर, गालिव, इकबाल और शाद। इन चारों में शाद को बिहारी होने का गौरव प्राप्त है। इनका पूरा नाम खान बहादुर सैयद अलीशाद है। ये उर्दू भाषा के सशक्त हस्ताक्षर हैं। इनकी लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इनकी कब्र पर प्रतिवर्ष हिन्दू और मुस्लिम दोनो ही सम्प्रदाय के लोग

समान रूप से चादर चढाते हैं और उन्हें सम्मानपूर्वक याद करते हैं। अनेक सरकारी- गैर सरकारी संस्थानों यथा- राजभाषा (उर्दू) विभाग, उर्दू एकेडमी के अतिरिक्त विभिन्न विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में उनकी जयन्ती मनायी जाती है। उनके बड़े पोते श्री बेहजादफातमी भी उर्दू के लेखक एवं मशहूर शायर थे। डॉ0 शहनाज़ फातमी को उन्हीं की पुत्री होने का सौभाग्य प्राप्त है। साहित्य उनकी रगों में खून बनकर पुश्त- दर- पुश्त प्रवाहित होते रहा है। इनके बड़े भाई, बड़ी बहन एवं छोटे चाचा भी उर्दू-साहित्यकार के रूप में काफी चर्चित एवं प्रशंसित रहे हैं। इनके रिश्ते में चाचा डॉ0 ऐस. एम. नवाब भी अपने समय के विख्यात चिकित्सक के साथ- साथ साहित्य सृजन से भी जुड़े हुए थे। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं हो रहा है कि डॉ0 शहनाज़ फातमी अपनी प्रथम दृष्टि खोलने से लेकर आज तक एक साहित्यिक आवृत्त में जीवन-यापन की हैं जिसका उत्कृष्टतम् प्रमाण उनकी रचनायें हैं और जिनमें निहित प्रगतिशीलता विचारणीय है।

इनका जन्म 5 जनवरी 1949 को बिहार के मुंगेर जिला के अन्तर्गत शेखपुरा नामक स्थान में हुआ। निम्न मघ्यवित्त वर्ग में जन्म लेकर डॉ0 शहनाज़ ने जीवन संघर्ष को अत्यन्त निकट से देखा है। बचपन से साहित्य के प्रति अदम्य अभिरूचि उन्हें सामान्य लोगों से अलग करती रही। डॉ0 फातमी के लिये यह बड़े सौभाग्य की बात रही कि इनके जीवन पर रूढ़िवादिता का साया कभी नहीं पड़ा। इन्होंने अपनी उच्च शिक्षा बड़ी आसानी से पूरी की। चूँकि इनके पिता प्रशासनिक सेवा में थे, इसलिए इनकी स्कूली शिक्षा कई जगहों पर हुई। डॉ0 फातमी का व्यक्तित्व बहुआयामी है। ये न केवल अच्छी शिक्षिका और साहित्यकार हैं बल्कि आई. सी. डब्लू. ए. संस्था से जुड़ी एक सामाजिक कार्यकर्त्ता भी हैं। कविताए कहानी, शायरी की ओर इनके मन में व्याप्त खिंचाव ने इन्हें हिन्दी शिक्षण प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया। डॉ0 शहनाज़ आज भी अपने हिन्दी शिक्षक श्री रामचन्द्रबाबू को याद करती हैं जिन्हें वे अपना प्रथम हिन्दी शिक्षक मानती हैं और जिनसे प्रभावित होकर ये हिन्दी शिक्षणए लेखन एवं पठन- पाठन के लिये प्रेरित हुई थीं।

राजनीति विज्ञान विषय से स्नातकोत्तर शिक्षा ग्रहण कर सन् 1972 में महाविद्यालय शिक्षक के रूप में अपना कार्यभार ग्रहण कर मगध विश्वविघालय में स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान विभाग की अघ्यक्ष बनने तक की सेवाकाल में इनकी साहित्यिक गतिशीलता कभी कम नहीं हुई। शिक्षक राजनीति विज्ञान विभाग की, किन्तु भावुक एवं प्रगतिशील विचार लेखन के माधयम से हमेशा अभिव्यक्त होते रहे। इस मानसिक अन्तर्द्वन्द के बीच रचित डॉ0 शहनाज़ फातमी का कथा-साहित्य नारी-जीवन एवं समास्याओं का दस्तावेज है। इनके 'मगर सुषमा नहीं टूटी, 'दरकते रिस्ते' लिप्साए 'लम्हों की कश्मकशा जैसे उपन्यास स्त्री जीवन के पर्त-दर-पर्त को खोलने में बेमिशाल हैं।

इन्होंने विशेषत: कथा साहित्य में नारी-जीवन की त्रासदी एवं पीड़ा को महत्वपूर्ण रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की है।

प्रेमचंद के बाद कथा-साहित्य में मुस्लिम जीवन एवं संस्कृति का चिन्तण क्षीण होता जा रहा था, लेकिन मुस्लिम कथाकारों ने आगे बढ़कर इसे संभाला और अपने समाज के अन्तर्विरोधों के साथ- साथ समूचे भारतीय संदर्भ में मुसलमानों के समक्ष खड़ी चुनौतियों तथा समस्याओं को उजागर करने का प्रयास किया। शहनाज़ फातमी के उपन्यास भी इसी प्रकार की एक कड़ी के रूप में उभर कर सामने आते हैं। इनके उपन्यासों में अपने समय के तीखे प्रश्नों से

मुठभेड़ करने की प्रवृत्ति मिलती है। साली तारा और जीजा अकरम के नाजायज संबंधों ने जहाँ एक ओर चाँद के जीवन को बर्बाद कर दिया, वहीं दूसरी ओर आनेवाली पीढ़ियाँ भी बर्बादी और रूसवाई की गर्त मे समा गयीं। नर-नारी के संबंधों को अनुशासित करने के लिये समाज ने कई तरह की पाबन्दियाँ लगा रखी हैं। लेकिन कई बार तृष्णाओं का भँवर जाल मनुष्य को इस कदर अपनी चपेट मे ले लेता है कि वह अंजाम की परवाह किये बिना इस भँवर जाल मे फंसता जाता है और जब उसे होश आता है तो बहुत देर हो चुकी होती है। फातमी जी के उपन्यास का शीर्षक ही अपने आप में पूरे कथानक का अर्थ स्पष्ट कर देता है।

'लम्हों की कसक' के माध्यम से लेखिका ने यह जताने की कोशिश की है कि व्यक्ति के अपने कर्मो के माधयम से पश्चाताप की ऐसी कहानी अपने पीछे छोड़ देता है, कि कई नस्लें और पीढ़ियाँ उसकी चपेट में आकर बर्बाद हो जाती हैं। मनुष्य की एक छोटी सी भूल एक पूरे आशियाँ को तबाह कर सकती हैं। यहाँ शहनाज़ एक समाज सुधारिका की भूमिका में हैं। अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उन्होंने अपने इस उपन्यास में स्पष्ट कर दिया है कि 'अगर तारा और अकरम ने कोई गलती की तो चाँद और अकरम बराबर के शरीक हैं। यदि उसने शुरू से ही तारा और अकरम पर पाबंदी लगा दी होती तो आज यूँ चाँद की जिन्दगी बर्बाद न होती।'' पूरे उपन्यास में यथार्थ और आदर्श के बीच द्वन्द्व दिखलाई पड़ता है। इकबाल की ये पंक्तियां उपन्यास का निचोड़ प्रतीत होती हैं-

स्नोबर बाग में आजाद भी है पा ब गिल भी है।
इन्हीं पाबन्दियों में हासिल आजादी को तू कर ले।

आने वाली पीढ़ियों को ये संदेश देती हैं कि आजादी नई संस्कृति, पश्चिमी सभ्यता का अन्धानुकरण- ये सब बहुत सुन्दर है, हसीन है लेकिन इनकी अहमियत तभी तक है जब हम आजादी का सही अर्थ समझ सकें। पाबन्दियों मे रहकर पायी गयी आजादी कहीं बेहतर है उससे, जहाँ बेबाक आधुनिकता की दौड़ में सम्मिलित होकर बेतुकेपन को अपना लेते हैं। कभी-कभी तो इस अंधी दौड़ में गलतियों पर गलतियाँ कर जाते हैं और अंत इतना अधिक निर्मम हो जाता है कि सदियाँ बर्बाद हो जाती हैं- लम्हों ने खता की थी सदियों ने सजा पायी।'' कथानक की दृष्टि से यह उपन्यास आज के जीवन के बहुत निकट प्रतीत होता है। सभी पात्र जाने-पहचाने से दिखाई देते हैं। हमारे दैनिक जीवन में भी कई तरह की कुंठाओं से ग्रसित पात्रें से हमारा परिचय नित्य हुआ करता है, जरूरत है उनके अंदर तक प्रवेश करने की। शहनाज़ ने अपनी रचनाओं में यह कार्य बखूबी से किया है। पाठकों के समक्ष अनेक प्रश्न अपने द्वारा निर्मित पात्रों के माधयम से वे सफलतापूर्वक उठाती हैं। मानवीय संबंधों की मर्यादा क्या होनी चाहिए? मनुष्य को सामाजिक पाबन्दियों का कायल होना चाहिए या नही? ऐसे कई प्रश्न हमारे सामने यक्ष-प्रश्न के रूप में लेखिका उठाती हैं जिनसे हमारी वैचारिकता उद्‌बुध होती है।

✧ ✧ ✧

---

लेखिका मगध विश्वविद्यालय में हिन्दी के शोधार्थी हैं।

# नयी कहानी और शिवप्रसाद सिंह का अवदान

जयवर्द्धन शिशिर

**नयी कहानी से पहले की कहानियों में परिवेशजन्य प्रमाणिकता का अपेक्षतया अभाव देखा गया है और वे सब कहानियाँ यथार्थ से दूर एक फार्मूलाबद्ध बनकर रह गयी थीं। नयी कहानी के रचनाकारों ने अनुभूतिगत सच्चाइयों से जुड़ने के कारण प्रथमतः अपने को पूर्वा-ग्रह से मुक्त किया और तत्पश्चात अनुभूत जीवन-खण्डों को अपनी कहानियों की वस्तु बनाया।**

स्वतंत्र्योत्तर काल में नयी कविता के समानान्तर नयी कहानी का आन्दोलन नयेपन को दर्शाना के लिए सर्वप्रथम आरम्भ हुआ। तत्कालीन कहानीकारों ने सन् 1950 के आस-पास परिवर्तित सामाजिक चेतना को उन्मुक्त भाव से मुखरित करना शुरू किया । फलतः स्वतंत्रता पूर्व की कहानियों में पर्याप्त अन्तर परिलक्षित हुआ। सामाजिक बोध का बदलता हुआ कथात्मक आग्रह वस्तु और शिल्प दोनों पक्षों में परिलक्षित होने लगा जिसे नयी कहानी की संज्ञा दी गयी। ''रूढ़ि को नकारते हुए नयी कहानी ने अपनी खोज शुरू की थी- यह खोज समाज धर्मा है - कथ्य के स्तर पर और शैली शिल्प के स्तर पर उसने अपने लेखकों की वैयक्तिकता को भी अक्षुण्ण रखा है।''

नयी कहानी से पहले की कहानियों में परिवेशजन्य प्रमाणिकता का अपेक्षतया अभाव देखा गया है और वे सब कहानियाँ यथार्थ से दूर एक फार्मूलाबद्ध बनकर रह गयी थीं। नयी कहानी के रचनाकारों ने अनुभूतिगत सच्चाइयों से जुड़ने के कारण प्रथमतः अपने को पूर्वा-ग्रह से मुक्त किया और तत्पश्चात अनुभूत जीवन-खण्डों को अपनी कहानियों की वस्तु बनाया। कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, शिवप्रसाद सिंह, ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया और अनिता औलक आदि की कहानियों में कथ्य के स्तर पर सामाजिक और वैयक्तिक जीवन का नवीन यथार्थ कुछ भिन्न शिल्प में ढ़लकर मुखरित हो चला। वहाँ

कथा जैसी कोई चीज नहीं दिखती है। किंतु कथानक है। कहानी की प्राचीन परिभाषा और बँधी-बँधायी परिपाटी से नयी कहानी ने अपने को सर्वप्रथम मुक्त किया। फलत: नये कहानीकार में अनुभूति के स्तर पर जीवन सत्यों की गहन अभिव्यक्ति मिली।

ऐसे तो यह चेतना 'पूस की रात', 'कफन' आदि कहानियों में बीज रूप में दृष्टिगत होती है। किन्तु इनमें किस्सागोई की परम्परा का पूर्णयता लोप हो गया। एक नवीन प्रयोगात्मक दृष्टि का उन्मेष हुआ जिसमें पुरातन मिथ्या आदर्शों और नैतिकताओं से नयी कहानीकारों ने अपने को मुक्त कर लिया। यथार्थ जीवन को केन्द्रस्थ करते हुए पुरातन मानव मूल्यों का खण्डन और नवीन मानव मूल्यों का मण्डन करना उनका ध्येय बन गया। वे कलावादी न होकर यथार्थवादी बनें। उनका श्रेष्ठ लक्ष्य जीवन की आन्तरिकता में प्रवेश कर उसकी जटिलताओं से जुड़े जीवन के सत्य सूत्रों को ढूँढ़ निकालना था। इसप्रकार मनोविश्लेषण भी नयी कहानी की आन्तरिक विशेषता बनकर हिन्दी कहानी शिल्प में ढ़ल गयी। इन कहानियों में जीवन की जटिलता, सत्यता, यथार्थता और इन सबों से जुड़ी विसंगतियों को आधार बनाकर वैयक्तिक और सामाजिक संबंधों को अनेक स्थितियों में चित्रित किया जाने लगा। फलत: अच्छे-बुरे का कई मापदण्ड पूर्व निर्धारित नहीं रहा। ग्राम्य जीवन की अपेक्षा शहरी जीवन के वैविध्यपूर्ण संदर्भों की ओर नयी कहानीकार उन्मुख दिखे। नयी परिस्थितियों ने जहाँ एक ओर मानवीय संबंधों में टूटन को प्रोत्साहित किया वहीं उसके समानान्तर नये मूल्यों को भी स्थापित किया। फलत: कहानीकारों को आलोचना का शिकार बनना पड़ा कि वे मानव मूल्यों में आस्था नहीं रखते। यदि कहानीकार जीवन की विसंगतियो, जटिलताओं और उसके रीतेपन पर प्रहार करता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसे ऐसा ही जीवन रास आता है, अपितु वह उन विसंगतियों को उभार कर उसकी विद्रूपता के प्रति पाठकों को सचेत भी करता है। नयी कहानी का रचनाकार जीवन की निर्थकता अथवा रिक्तता को उसकी सम्पूर्णता में उभारता है ताकि उसकी जटिलताओं का उद्‌घाटन हो सके। ऐसे भी व्यक्ति बाहर से जैसा दिखता है वैसा ही भीतर से भी हो, यह आवश्यक नहीं है। व्यक्ति अपने मनोजगत में जिस स्तर पर द्वन्द्व, संत्रास और भय जैसी दुखद स्थितियों से पीड़ित है, उनसे पाठक का परिचय कराना भी कहानीकार का दायित्व है शहरी जीवन में मानवीय भावनाओं का कोई महत्व नहीं है। यहाँ परायेपन का अहसास ही हमारे संबंधों को प्रभावित करता रहता है। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' (राजेन्द्र यादव), 'सब कुछ नहीं' (कृष्ण बलदेव वैद), 'यही सच है' (मन्नू भण्डारी), 'कोसी का घटवार' (शेखर जोशी), 'चीफ की दावत' (भीष्म साहनी), 'जख्म' (मोहन राकेश), 'परिन्दे' (निर्मल वर्मा), 'परकटी तितली' (शिवप्रसाद सिंह) आदि कहानियों में बदलती परिस्थितियों और तजन्य जिस मानवीय धारणाओं को उद्‌घाटित किया गया है, वह व्यक्ति के अर्थ प्रधान जीवन और स्वतंत्र संबंधों की अभिव्यक्ति है।

शिवप्रसाद सिंह की कहानियों को पढ़कर डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने पत्र में लिखा था, ''क्या कमाल की चित्रकारी तुमने सीखी है। भाषा पढ़कर तो मैं कभी-कभी सोचने लगा कि यह मेरा शिवप्रसाद लिख रहा है। पढ़कर मुझे बड़ा गर्व हुआ। ..... इन कहानियों को पढ़कर देखता हूँ कि इनमें वही बात है, जिसे बरसों से देखना चाहता था। जीवित मानवों की उपेक्षित प्रतिमायें। ऐसा लगता है कि ये पहचाने हुए लोग हैं, अचानक मिल गये हैं। दु:ख-सुख की इस सच्ची दुनिया को अनावृत करके तुमने सच्चे साहित्यकार का कर्तव्य निभाया है परमात्मा ने

तुम्हारी कलम में अद्‌भुत शक्ति दी है। उसे विश्राम न लेने दो, उद्‌घाटित करो इस वास्तविकता को। सच्ची रससृष्टि यही है।''

ऐसी ही वास्तविकता कमलेश्वर की कहानी 'देव की माँ' में अभिव्यक्त हुई है। वहाँ पति-पत्नी के सम्बन्धों के टूटन की अभिव्यक्ति हुई है। पति अपनी पहली पत्नी को छोड़कर दूसरी को अपनाता है। देवा की माँ इस स्थिति से अवगत है किन्तु पति से इसका विरोध करने का वह साहस नही जुटा पाती। पड़ोस की स्त्रियों को वह यह बताती है कि उसके पति उसे बहुत प्यार करते हैं किन्तु किसी दूसरी औरत ने उन्हें अपने प्रेमजाल में आकृष्ट कर लिया है। यहाँ कमलेश्वर ने संबंधों के टूटन के साथ-साथ संबंधों के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण को भी अभिव्यक्त किया है। ठीक इसी तरह की कहानी 'नशा' है जहाँ मन्नू भण्डारी ने संवेदनात्मक धरातल पर भावात्मक संबंधों को चित्रित किया है। शंकर अपनी पत्नी के साथ कठोर व्यवहार करता हैं उसका बेटा किसन माँ के प्रति किये गये दुर्व्यवहार से नाराज होकर घर छोड़ बाहर भाग जाता है। बारह वर्षों के पश्चात् वह घर लौटता है। माँ उससे फरियाद करती है - ''मुझे यहाँ से ले चल किसन..... यहाँ से ले चल। मैं अब एक दिन भी इस घर में रहना नहीं चाहती। मैंने बहुत सहा है, अब और नहीं सहा जाता, मुझे यहाँ से ले चल, यहाँ से आज ही'' किन्तु वहाँ से चले जाने के पश्चात् भी क्या आनन्दी अपने निष्ठुर पति से अलग हो पायी? कहानी के अंत में यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दी सिलाई-बुनाई से प्राप्त अपनी गाढ़ी कमाई में से शंकर को बीस रूपये प्रति माह भेजती रहती है।

यौन-संबंधों पर केन्द्रित कहानियों में संबंधों की जटिलता है। ये कहानियाँ पुरूष दृष्टिकोण प्रधान कहानियाँ हैं। स्त्री संघर्ष अवश्य करती है किन्तु अपने संस्कारों को पुरूष के समानान्तर छोड़ सकने में अक्षम दिखती है। जगदीश चतुर्वेदी की 'अधखिले गुलाब' एक ऐसी ही कहानी है जहाँ प्रेम से अधिक यौन भावना की ही अभिव्यक्ति हुई है- ''मैं लौटने पर पूछता हूँ, लड़कियाँ थीं बड़ी स्मार्ट। ये छोटी लड़कियाँ भी दिल्ली में जरूरत से ज्यादा समझदार हो जाती हैं। बारह साल की लड़की में भी वह सब बात आ जाती है जो पुरी औरत में होनी चाहिए।'' कृष्ण बलदेव वैद की 'त्रिकोण' कृष्णा सोबती की 'मित्रो मरजानी', उषा प्रियंवदा की 'एक और विदाई' आदि कहानियों का यथार्थ ऐसे ही संदर्भों से जुड़ा हुआ है।

नयी कहानी का रचना संसार मुख्यत: महानगर और नगर-बोध पर केन्द्रित रहा है। परम्परा से मुक्ति, काम की अदम्य भूख, ऊब, अकेलापन, अविश्वास आदि से जुड़ी संवेदनाएँ अभिव्यक्ति के विविध आयाम नयी कहानियों में बहुलता से अभिव्यक्त हुए। निर्मल वर्मा की 'लवर्स', राजेन्द्र यादव की 'एक कमजोर लड़की की कहानी', मन्नू भण्डारी की 'मैं हार गयी', रघुवीर सहाय की 'मेरे और नंगी औरत के बीच', रमेश वक्षी की 'थर्मस में कैद कुनकुना पानी' आदि कहानियाँ नगर बोध को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित करती हैं।

इस दौर में कुछेक कथाकारों का ध्यान ग्राम-अंचल के कतिपय यथार्थ चित्रण की ओर भी गया। आंचलिक कहानियों की शुरूआत स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हुई। नयी कहानी जब आन्दोलन का स्वरूप ग्रहण कर रही थी उसी दौर में ग्राम-जीवन को आधार बनाकर कुछ कहानियाँ लिखी गयीं। फणीश्वर नाथ रेणु की 'रस प्रिया', मार्कण्डेय की 'सात बच्चों की माँ', शिवप्रसाद सिंह की 'कर्मनाशा की हार' आदि के द्वारा इन कहानीकारों ने सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों

की पहचान कर प्रेमचंद की परम्परा को और आगे बढ़ाया। नगर-बोध पर लिखने वाले कहानीकारों के लिए इनकी कहानियाँ बहुत बड़ी चुनौती बन कर आयीं। इससे अनुप्रेरित होकर महानगरीय जीवन पर लिखने वाले कहानीकार ग्राम-कथा की ओर उन्मुख तो हुए किन्तु अनुभूत सत्य के अभाव में उन्हें उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल सकी। शिवप्रसाद सिंह की 'बिन्दा महाराज', 'इन्हें भी इंतजार है, 'सपेरा', 'मुरदा सराय', 'नन्हो' तथा रेणु की 'तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम', मधुकर गंगाधर की 'ढ़िबरी', हिमांशु जोशी की 'परती और परदेश', आदि कहानियाँ आंचलिक कहानियों में विशेष रूप से समादृत हुई। गाँवों, कस्बों और शहर के गरीब मुहल्लों की दारूण जिन्दगी का दहकता चित्रण करने में अमरकांत की 'जिन्दगी और जोंक', धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नों', 'हरिनाकुश का बेटा', 'धुँआ', कमलेश्वर की 'कस्बे का आदमी', 'मुर्दों की दुनिया', मनहर चौहान की 'घर घुसरा', महीप सिंह की 'सीधी रेखाओं का वृत' आदि समर्थ और प्रभावशाली रही हैं।

शिवप्रसाद सिंह एक ऐसे कथाकार हैं जिनकी कहानियों के ओर-छोर समग्रत: गाँव और कस्बाई जिन्दगी से जुड़े हुए हैं। उन्होंने ''मेरी प्रिय कहानियाँ' में स्पष्टत: इजहार किया है कि 'मेरी जिन्दगी में गाँव एक ऐसी हकीकत है जिसे मैं चाहकर भी काट नहीं सकता। गाँव की अछोर हरियाली में डूबे सीमांत फसलों के रंग-बिरंगे गलीचे बिछाकर किसी अनागत की प्रतीक्षा में डूबी धरती, सरसों, जलकुंभी और झरबेरी के जंगली फूलों से मदहोश वातावरण के बीच अपनी सामान्य जिन्दगी के लिए संघर्षरत किसान मेरी कहानियों के अविभाज्य अंग हैं।'' स्पष्ट है शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ ग्रामीण परिवेश की उपज हैं। इनमें केवल रूमानी साज-सज्जा भर नहीं है बल्कि ये संकेतार्थों से भरी पड़ी हैं। उदाहरण स्वरूप हम 'नन्हों' कहानी की इन पंक्तियों की अभिव्यंजना से अवगत कराना चाहेंगे ''एक-एक अच्छर को उच्चारणे में पहाड़-सा समय लग गया। चबूतरे के पास कलसी के नीचे पानी गिरने से जमीन नम हो गयी थी। जौ के बीज गिरे थे जाने कब के इक्ट्ठे एक में सटे हुए उजले हरे अंखुवे फूटे थे। नन्हों सहुआइन उन्हें देखती रही बड़ी देर तक।'' ये पंक्तियाँ सिर्फ परिवेश के एक छोटे से दृश्य को ही उजागर नहीं करतीं, बल्कि प्रेम की व्यथा से भरी नन्हों की मानस-कलसी के नीचे अनजाने में उग आयी बहुत सारी भावनाओं की ओर भी संकेत करती हैं।

शिवप्रसाद सिंह की कहानियों के पात्र आइडिया का रूप धारण किस प्रकार करती हैं इसका उदाहरण उनकी 'धारा' कहानी है। तिउरा चरित्र नहीं एक विचार है, दर्शन है इनमें संकेतार्थक बिम्बों का व्यापक प्रयोग कहानीकार की अपनी विशेषता है। जीवन के विराट फलक पर उबलते -उफनते बिम्बों को सटीक बैठाना शिवप्रसाद सिंह का अपना हस्तलाघव है।

लेखक स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, मगध विश्वविद्यालय में शोधार्थी हैं।

# संत पलटूदास की सामाजिक दृष्टि

प्रशांत रमण रवि

**संतों के यहाँ 'सहज' शब्द घटमान के केंद्र में है। यह सहजता दुनिया को बहुत खुबसूरत बनाने में अपनी बड़ी भूमिका निभा सकता है। यदि प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य, जीव और प्रकृति के प्रति सहज और आत्मीय हो जाये तो सारी समस्याओं का समाधान आसानी से हो जायेगा। संतों के यहाँ सारी प्रक्रिया सहज है। चेष्टा से नहीं है। बोध और समझ से है। जब राम के धाम पहुंच गये, वहाँ कैसा वर्ण! फिर कौन हिन्दू और कौन मुसलमान।**

संत पलटूदास के सम्बंध में बहुत थोड़ी सी बातें ज्ञात हैं। इनका कोई प्रमाणिक इतिवृति नहीं मिलता है। प्राय: सन्तों के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञात नहीं होता है। चाहे वह कबीर हों या पलटू हों। क्योंकि प्रमाण तो बाहर के जीवन के होते हैं। घटनाएँ तो बाहर के जीवन की घटती हैं लेकिन भीतर के जीवन का तो समय और इतिहास के रेत पर कहीं कोई चिन्ह नहीं होता है। भीतर का जीवन शाश्वत, सनातन और समयातीत होता है। इसलिए सिकन्दर, हिटलर, बाबर इत्यादि का पूरा इतिहास मिल जायेगा लेकिन संतों का नहीं। संत का जीवन भीतर का जीवन होता है। वह जीवन-जगता के सत्य को भीतरी तल पर महसूस करता है। और सार्वजनीक हित और कल्याण के लिए जीवन जीता है।

बहरहाल पलटू के सम्बन्ध में बस इतना ही ज्ञात है कि विक्रम की 19वीं शती में वे वर्तमान थे। अवध के नवाब सुजाउद्दौला और हिन्दुस्तान के बादशाह शाह आलम इनके समकालीन थे। इनके गुरु का नाम गोविन्द जी था, जो कि बड़े संत भीखा के शिष्य थे। पलटूदास जी के सगे भाई और परमभक्त पलटू प्रसाद (जिनका संसारी नाम कुछ और था) ने अपनी भजनावली नामक पुस्तक में थोड़ा सा हाल लिखा हैं जिससे निश्चय होता है कि पलटू ने 'नंगाजलालपुर' गाँव में एक बनिया के कुल में जन्म लिया था। भजनावली के दोहे हैं-

**नंगाजलालपुर जन्म भयो है, बेस अवध के खोर**

**कहैं पलटू प्रसाद हो भयो जगत में सोर**

**चार बरन को मोटिके, भक्ति चलाई मूल**

**गुरु गोविन्द के बाग में, पलटू फूले-फूल**

पलटू एक अत्यंत ही गरीब गाँव में पैदा हुए थे, नाम ही था 'नंगा जलालपुरी' अर्थात् गरीबों और नंगों का गाँव। गाँव का यह नाम बहुत प्रतीकात्मक है। ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों को मिटाकर भक्ति का ऐसा सूत्र दिया जहाँ सभी समान हों। वर्णों को मिटाने का सीधा सम्बन्ध जातीय विभेद को समाप्त करने से है। मिट जाना समाप्त होना नहीं है, बल्कि एक नए अस्तित्व का निर्माण है। इस संबंध में पलटू की आधुनिकता स्पष्ट है। वे कहते हैं-

**सहज जलालपुर मूंड मुड़ाया, अवध तुडी कर धनिया**

**सहज करे व्यापार घटहि मैं पलटू निर्गुन बनियां।**

संतों के यहाँ 'सहज' शब्द घटमान के केंद्र में है। यह सहजता दुनिया को बहुत खुबसूरत बनाने में अपनी बड़ी भूमिका निभा सकता है। यदि प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य, जीव और प्रकृति के प्रति सहज और आत्मीय हो जाये तो सारी समस्याओं का समाधान आसानी से हो जायेगा। संतों के यहाँ सारी प्रक्रिया सहज है। चेष्टा से नहीं है। बोध और समझ से है। जब राम के धाम पहुंच गये, वहाँ कैसा वर्ण! फिर कौन हिन्दू और कौन मुसलमान।

सबकुछ बदल गया, पलट गया। पलटने से पलटू 'पलटू' हो गए। पलटू नाम का अर्थ ही हुआ क्रांति। एक अपूर्व क्रांति हुई। इस तरह की क्रांति से पंडित-पुरोहित बहुत नाराज हुए। क्योंकि इस तरह पलट जाने वाले लोग उनके ही धंधे पर चोट करते हैं।

अब जो व्यक्ति बाजार में तुरिया बेचता हो, वह समाधि बेचने लगे तो पंडित और पुरोहित परेशान हो ही जायेंगे। पलटू साहब कहते हैं :-

**कौन करै बनियाई, अब भोरे कोन करै बनियाई**

**इंगला - पिंगला पलटा दूनो लागी सुरति की जोति**

**सत सबद की डांडी पकरौं, तौलों भर-भर मोती।**

कहते हैं कि पलटू के प्रहार और प्रभाव से तत्कालीन पंडित-पुरोहित और सामंत बहुत पीड़ित थे। इस बात की तरफ पलटू ने भी संकेत किया है। पलटू के प्रति ईर्ष्या और आक्रोश इतना बढ़ गया कि उन्हें जीवित ही जला दिया गया। किसी संत को जीवित जलाया जाना स्वयं में कई

सवाल खड़ा करता है। समाज में पंडितों-पुरोहितों की बर्बरता और सामंतवाद का इससे अधिक विद्रूप स्वरूप और क्या हो सकता है? स्पष्ट है कि पलटू दास सत्य का जहर उगल रहे थे, जिसे सुनना और स्वीकार करना उस बर्बर समाज के लिए असह्य हो रहा था।

पलटू नहीं रहे लेकिन उनके शब्द आज थी आग्नेय हैं। ठीक अगर कबीर के साथ किसी संत को खड़ा किया जा सकता है तो वह पलटू हैं। यह बात भी कही जाती है कि पलटू दूसरे कबीर हैं। कबीर और पलटू दोनों ही अपने समय की विद्रूपता और सामाजिक असमानता की पोल खेलते हैं अैर कविता के माध्यम से अक्रमण ही नहीं करते बल्कि मजाक भी उड़ाते हैं। पंडित-पुरोहित और सामंतों का जबर्दस्त मजाक पलटू की बानी में उपलब्ध है।

कारण यह कि नीची जाति से आने के कारण पलटू को तमाम सामाजिक पीड़ाओं से गुजरना पड़ा होगा। नीचे कुल में जन्म लेने की कीमत अदा करनी पड़ी होगी। पीड़ा की इसी अदायकी ने उनके पीड़ामय अंत: कथ्य को स्वर दिया। जैसा कि हमारा समाज वर्गीकृत है। पलटू के समय में यह विद्रूपता और भी बढ़ गयी थी। भोग, विलास, मनोरंजन और स्थूल श्रृंगार का काव्य में बोलबाला था। उस दौर में संतकाव्य की प्रगतिशील सामाजिक-सांस्कृतिक विरासत को पलटू दास आगे बढ़ाते हुए दिखाई दे रहे हैं, अपनी उग्र चेतना के साथ। क्योंकि जमींदारों, नवाबों के कुशासन तले पाखण्ड और जात-पात, सम्प्रदाय और रूढ़ियों के शिकंजे नए सिरे से सख्त हो रहे थे। यदि थोड़ा-बहुत रीतियुक्त काव्यधारा के मृदु विरोध को छोड़ दें तो बौद्धिक रचनाकारों के किसी वर्ग का ध्यान इस ओर नहीं था। ध्यान गया एक लोक कवि पलटू दास का। जो पढ़ा-लिखा नहीं था और पिछड़े वर्ग से था। साथ ही अपनी विरासत में जमा हुआ था। इस समय छोटी-छोटी रियासतें जनता के प्रति उदासीन थीं और अपने ही मौज में डूबी हुई थी। किसानों और उद्योग धंधे की स्थिति भी चौपट थी। गरीबी की महामारी के नीचे समान्य जनता पिस रही थी। एक चौतरफा शून्य फैल रहा था। राजतंत्र की व्यवस्था भी बिल्कुल चौपट थी। पलटू लिखते हैं-

**आगि लगो वहि देस में जहंवा राजा चोर**

**जहँबा राजा चोर प्रजा कैसे सुख पावें।**

यहाँ 'चोर' कहने का तात्पर्य चारो तरफ फैले शूल्य की ढ़ंकने-छिपाने की कोशिश से है। दरबारी कविता, शेरो-शायरी, संगीत,-नृत्य, तीर्थव्रत के नाम पर जनता को बरगलाने की कोशिश हो रही थी। ऐसे में पलटू का आविर्भाव समाज और साहित्य के लिए युगांतकारी घटना है।

नि:संदेह पलटू कठिन समय के सरल कवि हैं। एक कठिन समय में रचना-कर्म निश्चित ही चुनौतीपूर्ण और दु:साध्य होता है। इसे ईमानदार रचनाकार बखूबी समझते हैं। मुक्तिबोध को उद्धृत करें तो:

**'पिस गया वह भीतरी और बाहरी दो कठिन पाटों के बीच,**

**ऐसी ट्रैजिडी है नीचा।'**

प्रेमशंकर के शब्दों में ''मध्यकाल सामंती समाज है, जहां कई प्रकार की भूलभुलैया हैं, जिसे सभी कवियों ने महसूस किया। किसी ने उसे कलिकाल के रूप में देखा, किसी ने विकृत व्यवस्था के रूप में। पर सब आंतरिक स्तर पर बिसुस्थ, असंतुष्ट हैं और उसे अपने-अपने ढंग से चुनौती देते हैं- कबीर का विद्रोह, जायसी का प्रेम-भाव, सूर की रागात्मकता, तुलसी का लोकधर्म मीरा की पावनमयता सब मिलकर असंतोष को व्यक्त करते हुए, समानांतर वैकल्पिक, मूल्य-जगत् रचने की प्रेरणा देता है।'' संत कवि पलटू भी इसी धारा के कवि हैं। जो निरंतर बेहतर समाज और बेहतर दुनिया के निर्माण की बात करते हैं।

कहना न होगा कि पलटू के समय में सामंती व्यवस्था टूटने से धर्म, सम्प्रदाय, जाति, रूढ़ियाँ अधिक निर्मम और हिंसक हो उठी थीं। शोषण और दमन बढ़ गया था इसलिए स्वभावत: पलटू की जिम्मेदारियाँ बढ़ चलीं थी जिसका उन्होंने बखूबी निर्वाह किया। संत हो या भक्त यदि वह कवि है तो अपने युग की सीमाओं में जकड़ी भाषा के मुहावरों में बोलने ही नहीं, सोंचने के लिए भी विवश है। पलटू अपनी प्रतिभा से अपने समय को निर्दोष नेत्रों से देखने में सफलता प्राप्त करते हैं। वह एक ऐसे समाज दर्शन की वकालत करते हैं जो वास्तव में सबके लिए समरस और आनन्दपूर्ण हो सके। पलटू की रचना एक दर्शन, विचार, मूल्यसंसार, और सम्पूर्ण संस्कृति भी है जो अपने समय और सामाज में अंत: प्रवेश की क्षमता रखती है। यथार्थ ऊपर-ऊपर नहीं तैरता उसके आवरण होते हैं। जिन्हें भेदकर, रचनाकार को भीतर प्रवेश करना होता है। यह उसकी प्रतिभा-क्षमता, सम्वेदन सामर्थ्य पर निर्भर है कि वह कैसे देखता है। पलटू का वैचारिक संसार बहुत स्पष्ट, सुलझा हुआ और मानवतावाद से प्रेरित है। मुक्तिबोध ने रचनाकार के मानवतावाद (मानववाद) का प्रासंगिक प्रश्न उठाते हुए कहा है कि लेखक के अंत: करण में जो भाव-तत्व हैं, जो जीवन ज्ञान-व्यवस्था है, और उस व्यवस्था के अंतर्गत जो दृष्टि है, उनके परिचालित और परिपुष्ट जो सम्वेदनात्मक उद्देश्य है, उनसे कलाभिव्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षा रखती है, उन पर निर्भर करती है अपने रूप तत्व के विकास के लिए।

पलटू का काव्य अपने सहजीवियों के प्रति प्रेमपूर्ण है। उसमें दया का भाव नहीं है बल्कि दु:ख दूर करने और समानता मिटाने के लिए एक लाभप्रद प्रयत्न भी करता है। पलटू दास कामगार समुदायों, गाँव-घर के छोटे-छोटे परम्परागत पेशों के सहारे रोजी-रोटी कमाने वालों के बीच अधिक धंसे हुए हैं। इनके रोजमर्रा के संघर्षों से अधिक परिचित हैं। पलटू ने अपनी भक्ति में सहायक जिस अप्रस्तुत विधानों का चयन किया है, वे सभी अप्रस्तुत विधान ग्रामीण पेशेवाली जातियों और उनके औजारों से लिया है। इन उपकरणों को पलटू छोटी जातियों के कार्यों और सरोकारों के बीच से ग्रहण करते हैं। इसमें धोबी, धुनिया, बनिया, बढ़ई, लोहार और केवट सभी सम्मिलित हैं। ऐसे स्थलों पर सामाजिक सरोकार का महत्व पलटू के काव्य में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उदाहरण के रूप में-

**संत सासना सहत हैं जैसे सहत कपास**

**जैसे सहत कपास नाम चरखा में ओटै**

**रोम रोम अलगाय पकरि कै धनिया धूनी**

**पिउनी (सूत) नंह दें कात सूत ले जुलहा बूनी॥**

**धोबी भही पर घरी कुन्दीगर मुंगरी मारी**

**दरजी टुक-टुक कराने दुख सहै पलटू दास।**

**संत सासना -**

संत भक्ति में उसी प्रकार से कष्ट सहता है जैसे कि 'कपास'। कपास से कपड़ा बुनने की प्रक्रिया में धुनाई, धुलाई और सिलाई जैसे तमाम प्रक्रियाएँ हैं। यह प्रक्रिया एक जाति विशेष के कर्म और पेशे का प्रतिनिधित्व करती हैं।

अपनी भक्ति के लिए समाज के सभी कामकाजी वर्गों से स्रोत निकालना पलटू के काव्य की अनूपम निधि है। पलटू दास पण्डितों, पुरोहितों और राजपूतों को आईना दिखाने और उनकी आलोचना करने से कोई गुरेज नहीं करते हैं। व्यंग्य की धार ऐसी जिससे सभी घायल हो जाते हैं।

**पढ़ि-पढ़ि क्या तुम कीन्हा पंडित, अपना रूप न चीन्हा**

**औरन को तुम ज्ञान बताओ, तुम को परै न सूझी**

**पढ़ना गुना छोड़ि के पौड़े अपनीक काया सोधो**

इतना ही नहीं वे पण्डितों को एक रास्ता भी बताते हैं जिस रास्ते पर चलकर जीवन और समाज को सुन्दरतम बनाया जा सकता है।

**ऐसा ब्राह्मण मिलै जो ता के परछौं पॉय**

**ता के परछों पाय ब्रह्म अपने को पावै**

**धर्म जनेऊ तोरि प्रेम तिरसूत बनावै**

अर्थात् प्रेम का तिरसूत बनाने वाला व्यक्ति ही ब्राह्मण है। वह प्रत्येक व्यक्ति ब्राह्मण है जो प्रेम के आईने में पूरी दूनिया को देखना चाहता है।

संत कवियों द्वारा प्राय: स्त्री जाति की निंदा की गई है। कबीर ने जहाँ स्त्री को नरक का कुण्ड बताया, वहीं पलटू स्त्री को नागिन, माया, वेश्या तो कहते ही हैं, अस्सी वर्ष की स्त्री पर भी

विश्वास नहीं करने की बात कहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने स्त्रियों के यौन भाव वाले अंश को ही गर्हित माना है। किंतु स्त्रियों में यही भाव सबकुछ नहीं है और न पुरुष ही इस भाव से रहित हैं। पलटू यह मानते हैं कि पुरुष भी स्त्री के लिए उसी प्रकार बंधन है जिस प्रकार स्त्री पुरुष के लिए।

निर्गुण संत कवियों ने स्त्रियों के लिए भक्ति का मार्ग खोलकर नि:संदेह एक बड़ा काम किया तथा स्त्रियों को अपने शिष्य के रूप में भी स्वीकार किया। अन्य निर्गुण संत कवियों की तरह पलटू ने भी नारी के पतिव्रता और सती रूप को महत्व दिया है।

**सोई सती सराहिये जरै पिपा के साथ**

**जरै जिया के साथ सोई है नारि सयानी**

**रहै चरन चित लाभ एक से और न जानी**

**जगत करै उपहास पिया का संग न छोड़े**

स्त्री के प्रति सतीत्व का दृष्टिकोण सामंती युग की सीमा हैं पलटू भी इस सीमा से बाहर नहीं निकल पाते हैं। स्त्री की प्रशंसा का एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि मध्यकालीन समाज में पर नारी ही नहीं परु पुरुष गमन की भी प्रवृत्ति थी।

**बिस्वा किये सिंगार है बैठी बीच बजार**

**बैठी बीच बजार नजारा सब से मारै**

**बातें मीठी करैं समन की गांठि निहारै**

यह वह वेश्या है जो श्रृंगार-मण्डित होकर बीच बाजार में बैठी है और जिसकी नजर लोगों की जेब पर है। पलटू आगे कहते हैं :-

**बहुत पुरुष के भोग से बिस्वा हो गई बॉझ**

**बिस्वा हो गई बॉझ ताहि के पुरुष घनेरे।**

इस प्रकार से इस बात की भी पूरी सम्भावना है कि अतिशय भोगवादी दृष्टि और यौनाचार से समाज को बचाने के लिए भी संतों ने स्त्री की प्रशंसा और निंदा का मार्ग निकाला। होगा। लैंगिक अर्थ में पलटू पुरुष की पराधीनता से स्त्री मुक्ति की बात करते हैं।

**खसम विचारा मरि गया जोरू गावै तान**

**झूठ सकल संसार मॉग भरि सेंदुर धारा**

**हम पतिबरता नारि खसम को जियतै मारी**

यहाँ अहंकार के मरने के साथ ही नारी स्वतंत्रता के पक्ष में भी यह पद लौकिक दृष्टि से खड़ा है। पति से ही दुनिया में स्त्री की पहचान मानी जाती रही है। पलटू इस तथ्य के विरुद्ध खड़े हैं। यह पलटू की आधुनिकता का बेजोड़ नमूना है।

व्यक्ति और परिवार मिलकर एक व्यवस्थित समाज का निर्माण करते हैं। पलटू परिवार के तमाम पात्रों और उनके बीच बुन रहे खट्टे-मीठे सम्बन्धों को मनोवैज्ञानिक छौंक के साथ प्रस्तुत करते हैं। इन पात्रों में बहू, ननद, सास और परिवार के वृद्धों का भी चित्रण बखूबी मिलता है।

आज जब अपने देश और दुनिया में आपसी भाईचारा और साम्प्रदायिक सौहार्द खतरे में है। हर जगह हिन्दु-मुसलिम, अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक की लड़ाई में दुनिया जल रही है, तब पलटू की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है। उनका ये सुन्दर पद दखिए-

**मुसलमान रब्बी मेरी हिन्दु भया खरीफ**

**हिन्दु भया खरीफ दोक है फसिल हमारी**

नि:संदेह पलटू की साधना का स्वरूप व्यक्तिगत है क्योंकि वे अपने आध्यात्मिक विकास के लिए जंगलों में नहीं जाते बल्कि अपनी साधना का क्षेत्र सामाजिक चेष्टाओं को ही बनाते हैं। निगुर्ण भक्तों का सामाजिक सरोकार केवल इस बात से कम नहीं हो जाता कि उनकी साधना में अपरलोक के प्रति उत्कट कामना बनी रहती है। बल्कि वे विवश रहते हैं कि वे अपने समक्ष सांसारिक दु:ख को रखा करें और उसी में सामाजिक बुराईयों को दूर करने वाले प्रयत्न भी बीज रूप में विद्यमान रहते हैं। प्रेम जहाँ एक ओर संसार के प्रति उपेक्षा सूचित करता है, वहीं दूसरी ओर अपने सहजीवी प्राणियों के प्रति स्नेह भी उत्पन्न करता है। क्योंकि सभी वस्तुत: एक ही स्रोत से उत्पन्न हुए है।

कहना न होगा कि वेदों और उपनिषदों से ज्ञान की सरिता जो पुरी दुनिया को सुन्दर बनाने का रास्ता देती है, वह कबीर और अन्य निर्गुण कवियों से होती हुई पलटू तक अपने समवेत वेग में पहुँचती है। पलटू का काव्य अपने समय और समाज का जीवंत दस्तावेज तो है ही इस बेहतर दुनिया के निर्माण के लिए एक मंत्र भी जरूर है।

✧ ✧ ✧

---

लेखक हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय में शोधार्थी हैं।
**संपर्क सूत्र : 08130443350**

# हिंदी नवजागरण के अग्रदूत राधामोहन गोकुल

गुड़िया कुमारी

**राधामोहन गोकुल ने 'कम्युनिज्म क्या है' शीर्षक नामक पुस्तक लिखी। हिंदी की प्रारम्भिक पुस्तकों में इस पुस्तक का अलग महत्व था। इसमें विचारों के अनुवाद वाला परायापन नहीं था। यह हिंदी में सोचकर लिखी गई पुस्तक थी। यह भारत की सामान्य जनता के लिए लिखी गई थी, जो इसे पढ़कर समझें, विचार करें और आखिर में एक निर्णय भी ले। इसकी भाषा में जातीय ठेठपन है। भाषा का देशज प्रभाव आत्मीय लगता है। व्यंजक मुहावरों का बड़ा सटीक और मारक इस्तेमाल है।**

राधामोहन गोकुल का जन्म 15 दिसम्बर1865 को उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद के पास स्थित भदरी रियासत के एक धर्मभीरु परिवार में हुआ था। उनके पूर्वज तत्कालीन जयपुर राज्य के खेतड़ी से चलकर वहां आये थे। परिवार की परम्परा के अनुसार 13 वर्ष की उम्र में ही राधामोहन की शादी कर दी गई और बाल विवाह का कुफल उन्होंने इस रूप में भोगा कि 1883 में उनके 28 वर्ष के होते-होते उनकी पत्नी का निधन हो गया और उन्होंने नया विवाह रचाने के बजाय आजीवन विधुर रहने का संकल्प ले लिया। शिक्षा पूरी होने के थोड़े दिनों बाद उन्हें इलाहबाद में ही एक सरकारी नौकरी मिल गई थी मगर अंग्रेज अधिकारी द्वारा किये गए अपमान से वे इतने क्षुब्ध हो गए कि उससे जमकर मारपीट करने के बाद कसम खा ली कि आइन्दा गोरो की कोई नौकरी नहीं करूँगा।

सन् 1880 के आसपास बहुत छोटी उम्र में ही वे हिंदी 'प्रदीप' के संपादक बालकृष्ण भट्ट और भारतेंदु मंडल के दूसरे सदस्य प्रताप नारायण मिश्र के संपर्क में आ गए और जातिप्रथा व कूपमंडूकता पर चोट करने वाले लेखन में प्रवृत हो गए थे।

औपनिवेशिक दासता के विरूद्ध तो उन्होंने जीवन भर संघर्ष किया। इस संघर्ष में वे लेखन और पत्रकारिता को हथियार के रूप में जब-तब आजमाते रहे। उनका मनना था

कि रूढ़ियों व अंधविश्वासों में भारतीयों की प्रवृति अज्ञानता और मानसिक दासता सब अंग्रेजों की औपनिवेशक गुलामी के चलते ही है।

उपलब्ध साहित्य अवलोकन – राधामोहन गोकुल के समय-समाज से सरोकारों का जो रूप उनके लेखन में है – उसमे देश का धान के बाद दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक नीति-दर्शन 'दो खण्ड' है।

गोकुलजी के राजनीतिक संपर्को को देखने पर चकित रह जाना पड़ता है भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के सबसे बड़े व्यक्तित्व महात्मा गांधाी ने उनकी प्रशंसा की थी। झंडा-सत्याग्रह में उनके अदालत में दिए वक्तय पर गांधी जी ने 'यांग इंडिया' में संपादकीय लिखा था और उनके व्यक्तित्व की भूरा-भूरा प्रशंसा की थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती, मदन मोहन मालवीय और लाला लाजपत राय जैसे लोगों से उनके निजी संपर्क-संवाद थे।

गोकुल जी का साहित्यिक संपर्क व्यापक था। प्रताप नारायण मिश्र के संपर्क में आकर उन्होंने लिखना शुरू किया और उनके इतने आत्मीय बने की 'ब्राम्हण' में मैनेजर के रूप में उनका नाम भी छपने लगा। इलाहबाद में रहते हुए पं. बालष्ण भट्ट का सामीप्य मिला और उनके कुछ लेख 'हिंदी प्रदीप' में भी छपे।

पं. पद्मसिंह शर्मा, श्यामसुंदर दास, गणेश शंकर विद्यार्थी, ईश्वरी प्रसाद शर्मा, शिवपूजन सहाय सहित अपने समय के तमाम प्रमुख लेखकों के बीच गोकुल जी सम्मानित रहे। निराला जी गोकुल जी को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। गोकुल जी ने अपने समय की प्राय: सभी पत्रिकाओं में विपुल लेखन किया। निराला की 'मतवाला' में उनके कई लेख प्रत्यक्षवादी छद्नाम से भी छपे थे। लेखन के अलावा उन्होंने 'ब्राह्मण' 'समाजसेवक' और 'प्रणवीर' नामक ऐतिहासिक दायित्व निभाने वाली पत्रिकाओं का संपादन भी किया। उनके जीवन पर नजर डालें तो रूढ़ियों के विरोध से शुरू हुई यह यात्रा आर्यसमाज में उनकी सक्रियता तक पहुँच कर भी थम नहीं गई। सन् 1920 ई. तक के वे कट्टर निरीश्वरवादी जुझारू भौतिकवादी और उत्कट जनवादी व्यक्तित्व के तौर पर सामने आ चुके थे। राजनितिक सक्रियताओं के क्रम में गोकुल जी कांग्रेसी राजनीती के सीमांतो का अतिक्रमण करते हुए आगे चलकर क्रन्तिकारी बने और साम्यवाद के प्रचार व कम्युनिस्ट पार्टी के गठन में भी उन्होंने भूमिका निभाई।

राधामोहन गोकुल के विचारों में तर्क, बुद्धि और विज्ञान के प्रति जो झुकाव था – उसकी स्वाभाविक परिणति साम्यवाद में ही थी। ईश्वर, धर्म और अंधविश्वासों के प्रति उनके विचारों में जो तार्किक बौद्धिकता थी – वह उन्हें आसानी से साम्यवाद के समीप ले आई। रुसी क्रांति के बाद पूरी दुनिया में साम्यवादी विचारों का प्रभुत्व बढ़ा और खासतौर पर भारतीय स्वाधीनता आंदोलन पर इसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में रुसी क्रांति को लेकर लगातार सामग्री छपती रही। अनेक स्वाधीनता सेनानी रुसी क्रांति में रूचि ले रहे थे। साथ ही वे कई स्तरों पर इससे प्रभाव और प्रेरणा भी ग्रहण कर रहे थे। वे भारत की स्वाधीनता को अपने-अपने तरीके से रुसी क्रांति से जोड़ने या जोड़कर देखने की कोशिश कर रहे थे – गोकुल जी भी इसके अपवाद नहीं थे।

गोकुल जी का मानना था कि भारत की आबादी का एक बड़ा हिस्सा स्त्रियों और शूद्रों का है। ये दोनों परतंत्र हैं इनके भीतर जरुरी जागरूकता का भी घोर अभाव है। वे इस स्थिति से विचलित होकर अपनी आवेगमयी भाषा में उन्हें जगाने, सचेत करने और सक्रिय बनने की कोशिश अपनी रचनाओं द्वारा करते हैं। उनका ऐसा मनना हैं कि अगर समाज का बड़ा तबका खुद परतंत्र रहेगा तो वह देश को कैसे स्वतंत्र करेगा ? ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध लड़ाई में अगर स्त्रियों और शूद्रों का बड़ा तबका शामिल नहीं होगा तो स्वाधीनता का संघर्ष स्वत: कमजोर पड़ेगा। इसे गोकुल जी देश की पराधीनता के प्रमुख कारणों में मानते थे। गोकुल जी लिखते हैं भारत की पराधीनता उसी दिन तक है जिस दिन तक 'छूत का भूत' और स्त्रियों के गले का बंधन न हटा है। 'नारियो का अधिकार'

गोकुल जी के अनुसार जिस दिन दलितों और स्त्रियों को मुक्ति मिल जाएगी – उस दिन पराधीनता खत्म हो जाएगी।

राधामोहन गोकुल ने 'कम्युनिज्म क्या है' शीर्षक नामक पुस्तक लिखी। हिंदी की प्रारम्भिक पुस्तकों में इस पुस्तक का अलग महत्व था। इसमें विचारों के अनुवाद वाला परायापन नहीं था। यह हिंदी में सोचकर लिखी गई पुस्तक थी। यह भारत की सामान्य जनता के लिए लिखी गई थी, जो इसे पढ़कर समझें, विचार करें और आखिर में एक निर्णय भी ले। इसकी भाषा में जातीय ठेठपन है। भाषा का देशज प्रभाव आत्मीय लगता है। व्यंजक मुहावरों का बड़ा सटीक और मारक इस्तेमाल है। जहां तक विचारों की बात है तो उन जैसी प्रखरता उनके किसी दूसरे समकालीनों में नहीं मिलती। इसके कारन ही तो उनकी विशिष्ट पहचान बनती है। विचारों के अलावा भी उनके विचार करने के अंदाज में भी देशीपन है। राधामोहन गोकुल जी ने भारतेंदु युग के बाद के लेखक हैं लेकिन द्विवेदी युग के नहीं। इस समय तक के लेखकों ने उपन्यास साहित्य में काफी कम काम किया है। प्रेमचंद्र के पूर्व गिनाने को कहा जाए तो काफी उपन्यास निकल सकते हैं लेकिन वे कोई खास उल्लेखनीय नहीं। ज्यादातर सामान्य कोटि के ही उपन्यास है। बावजूद इसके अलग-अलग दृष्टि से कुछ की चर्चा होती है और उसके अनुरूप उन्हें महत्व भी दिया जाता है।

वैसे तो राधामोहन गोकुल जी के तीन उपन्यासों की सूचना मिलती है। ये सभी 1916 ई. के पूर्व तक छप चुके थे एक उपन्यास 'हरिसिंह व कुमारी' तथा दूसरा 'निर्धानराम' है। दुर्भाग्य से ये दोनों उपन्यास अभी तक अनुपलब्ध है। यहाँ तक उनकी रचनावली पर काम करने वाले स्व. उदयशंकर शास्त्री को भी ये उपन्यास नहीं मिल सके थे। उनके पास तो 'हरिसिंह व कुमारी' की सूचना तक नहीं थी। सन् 1918 ई. में कलकत्ते से प्रकाशित 106 पृष्ठों का 'अंग्रेज डाकू' नाम का उपन्यास छपा।

आज तक हमारे हिंदी साहित्य के ये पुरोधा गुमनाम जैसे है जबकि इस क्षेत्र में उनका योगदान अन्यतम है। राधामोहन गोकुल जी का जीवन बड़ा ही संघर्षपूर्ण घटनाबहुल था। उनके सक्रियता के आयाम भी अलग-अलग रहे वे व्यवस्थित रहकर साहित्यक लेखन करने वाले साहित्यकार भी नहीं थे।

वैसे ही उनके प्राथमिकता में साहित्य लेखन था भी नहीं। उन्होंने जीवन भर राजनीतिक और सामाजिक कार्यो को ही अहमियत दी और उसी के निमित अपना ज्यादातर लेखन किया। उनके लेखन का धयेय था - जनता के बीच वैज्ञानिक सोच और विचारो को फैलाना, राष्ट्रीय भावनाओं को उत्प्रेरित करना, पुरानी और जड़ परम्पराओं को खत्म कर, नयी वैज्ञानिक समझ पैदा करना। उनकी देशभक्ति उन्हें हमेशा बेचैन किये रहती थी। उनके भीतर समाज में बुनियादी उलटफेर कर देने का आश्चर्य जनक तूफानी जज्बा था। वे एक जिद्दी योद्धा की तरह समाज व सोच की संकीर्णता पर आखिरी सांस तक चोट करते रहे है। उनकी समझ और संकल्प इतना पक्का था की व्यवहार में तनिक भी डगमगाहट उनके पुरे जीवन में दिखाई नहीं पड़ती है।

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची**


1. 1857 की राज्यक्रांति और हिंदी नवजागरण - कर्मेन्दु शिशिर
2. ईश्वर का बहिष्कार - राधामोहन गोकुल
3. धर्म का ढकोसलारू राधामोहन गोकुल
4. भारतीय नवजागरण के कोहिनूर - हकीम अजमल खाँरू कर्मेन्दु शिशिर
5. नवजागरण के सम्रांत नायक - बदरूदीन तैयब - कर्मेन्दु शिशिर
6. लौकिक मार्ग - राधामोहन गोकुल
7. स्त्रियों की स्वाधीनता - राधामोहन गोकुल
8. नवजागरण और आजाद ख्याल - हसरत मोहिनी - कर्मेंदु शिशिर
9. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण - रामविलास शर्मा
10. राधामोहन गोकुल समग्र ( भाग 1 ) - अनामिका प्रकाशन
11. राधामोहन गोकुल समग्र ( भाग 2 ) - अनामिका प्रकाशन
13. नवजागरण और संस्कृति - डॉ. कर्मेन्दु शिशिर
14. भारतीय नवजागरण और समकालीन सन्दर्भ - डॉ. कर्मेन्दु शिशिर नई किताब दिल्ली प्रकाशन वर्ष 2013
15. डॉ. रामविलाश शर्मा नवजागरण एवं इतिहास लेखन, विभा प्रकाशन इलाहाबाद
16. हिंदी मासिक पत्रिका - संवेद अंक 44 संपादक -किशन कालजयी


✧ ✧ ✧

---


लेखिका मगध विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के शोधार्थी हैं।

## गजल

## राकेश अचल

ले जा रहा हूँ, तू भी मुहब्बत के साथ जी
जो आये उसके साथ भी हिम्मत के साथ जी

मत याद रख खतायें मेरी, यार भूल जा
तेरा हूँ यार, कुछ तो मुरव्वत के साथ जी

शायद न लिख सकूँ मै नया खत किसी के नाम
फिर से निकाल, देख, उसी खत के साथ जी

जीना पड़ेगा तुझको कसम है, कसम तो मान
नाराज है तो ठीक, अदावत के साथ जी

मुमकिन नहीं है फिर से मुलाकात क्या करूँ ?
अब सर्दियों में सिर्फ हरारत के साथ जी

मिट्टी बमुश्किल से गारा बनती है
तब जाकर सपनों की कारा बनती है

जुमला केवल जुमला ही कहलाता है
बात पते की हो तो नारा बनती है

दौर इलेक्शन के बनती है बस्ती में
सड़क कहीं क्या कभी दुबारा बनती है

नहीं जानते क्या इतना भी, भोले हो
मछली ही मछली का चारा बनती है

आग जलायेगी, उसकी मजबूरी है
समझदार के लिए इशारा बनती है

अचल यहां पर सब ही लंगड़े-लूले हैं
कितनों का सरकार सहारा बनती है ?

✧ ✧ ✧

एफ/10, न्यू पार्क होटल पाडव, ग्वालियर (मध्यप्रदेश), मो0 : 09826217795

राकेश अचल प्रसिद्ध पत्रकार एवं ग़ज़कार हैं।

कविता

अमित कुमार

# बेजमीन

दुनिया की किसी भी
खूबसूरती से
कहीं ज्यादा
कीमती है
मेरा यह छोटा सच कि
भूखे पेट अक्सर
नींद नहीं आती है
और इसी तरह
एक दिन और
ढुलक जाता है
हमारी आँखों से
कोई अनमोल सपना

हांलाँकि नहीं साध सकते तुम
रस्सी पर अपने पाँव और
एक छोटी-सी आस पर
जिंदगी का दांव
हमसे बेहतर
फिर भी
करो जो कभी 'नाईट-आऊट'
दलित घरों में
तो पाओगे
वहाँ जिंदगी (गरीबी की ही तरह)
वह मजबूरी है
जहाँ सपने
अक्सर आते-आते
पूरी रोटी पर
आधा प्याज जितना
रह जाते हैं

सपने
छोटे होते हैं तो
अक्सर छले जाते हैं
और
बड़े होते ही
बूढ़े हो जाते हैं
न जाने
किस जमीन पर
पूरे होते हैं
सपने

✧ ✧ ✧

सम्पर्क : 1/9150, अपर ग्राउण्ड फ्लोर, पश्चिम रोहतास नगर, शहादरा, दिल्ली–110032
e-mail : amitwri@gmail-com, Mob. : 9868988190

देश के प्रतिष्ठित पत्र–पत्रिकाओं मे ंविपुल लेखन, हिन्दी अकादमी दिल्ली द्वारा नवोदित लेखक पुरस्कार से सम्मानित। सम्प्रति सहायक प्रोफेसर (तदर्थ) विवेकानंद कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय।

# एक नदी मेरा जीवन : विशुद्धानंद

ऋषिकेश पाठक

हिन्दी, भोजपुरी, अंगिका एवं मगही के सुप्रतिष्ठ गीतकार विशुद्धानंद के प्रतिनिधि गीतों का एकल काव्य पाठ विगत 30 जुलाई 2016 को पटना के अवर अभियंता संघ भवन सभागार में सृजन संगति के तत्वावधान में मुर्द्धन्य साहित्यकार श्री भगवती प्रसाद द्विवेदी की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ, जिसमें साहित्य यात्रा के संपादक एवं अनुग्रह नारायण महाविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. कलानाथ मिश्र मुख्य अतिथि तथा हिन्दी तथा भोजपुरी के विद्वान साहित्यकार डॉ. तैयब हसन पीड़ित विशिष्ट अतिथि थे। नई धारा के संपादक और समीक्षक डॉ. शिवनारायण द्वारा कार्यक्रम का संचालन किया गया। हृषीकेश पाठक ने इस अवसर पर आगत अतिथियों एवं श्रोताओं का स्वागत किया।

श्री विशुद्धानंद के एकल काव्य पाठ के पूर्व डॉ. शिवनारायण ने कवि परिचय के क्रम में बताया कि लगभग दो वर्षों तक अस्वस्थ रहने के उपरान्त स्वस्थ होकर अपने प्रतिनिधि गीतों के साथ हमारे बीच हिन्दी, भोजपुर, अंगिका एवं मगही भाषा के कवि विशुद्धानंद प्रतिभा के धानी कवि विशुद्धानंद बहुआयामी चेतना के रससिद्ध गायक हैं। इनके गीतों की आंतरिक लय अपनी परम्परा से सम्पृक्त रहते हुए भी सर्वथा समकालीन चेतना से आवेष्टित होती है।

**अधखुली आँखों मे ब्रह्माण्ड को समा देने वाली कविता के पश्चात् कवि ने जीवन के बीतते क्षणों को कुछ इस प्रकार सुनाया - बीत रहे सपनों के दिन/रीत रहा जीवन घट ऐसे/मुठ्ठी में कसी हुई रेत/चाहकर भी रूके नहीं जैसे!!**

अपना एकल काव्य पाठ का आगाज कवि विशुद्धानंद ने 'एक नदी मेरा जीवन' से प्रारम्भ करते हुए जीवन-संघर्ष को नदी के जीवन से कुछ यों जोड़कर गीत गाया :- कभी तरल, तो कभी सघन/एक नदी मेरा जीवन!!/बादल ने छोड़ा मुक्षको,/ पर्वत ने तोड़ा मुझको,/बूंद-बूंद चुनकर सहेज कर,/धरती ने जोड़ा मुझको,/पाकर अति कमनीय कलेवर,/इतराया भोला बचपन !! / एक नदी मेरा जीवन.....श्रोताओं ने ताली बजाकर कवि को उत्साहित किया। कवि ने अपना अगला गीत 'पावस' सुनाया - गीत गाता गगन, नाचता है पवन,/आज धरती का मन, मुस्कुराने लगा!! / आया पावस सजन, बाँधा कर सेहरा,/ मौसमी राग में, बूंद गाने लगी, /खिल उठा वादियों का, हरा बांकपन, सुन्दरी सी नदी गुनगुनाने लगी! मौन होकर मुखर, लय बनाने लगा !! ..... गीत को सराहते हुए श्रोताओं में और सुनने की उत्सुकता जगने लगी। कवि ने अगला गीत 'वसंत के दिन' से श्रोताओं का मन कुछ यों मोहा - आमों के संग बौराने के दिन / भौरों के संग, गुनगुनाने के दिन/भेज रही दिशा-दिशा नेह निमंत्रण/पलकों में बसने बसाने के दिन!!

श्रोताओं के विशेष आग्रह पर कवि ने अपने दो गीत सुनाये, जिसे खूब सराहा गया तथा और-और की आवाज आती रही।

**थोड़ा सा अपना सुर दे दो, कुछ लायक बन जाउँगा,**

**गा-गाकर सुरमय गीत मीत, मैं गायक बन जाउँगा।**

तथा

**हमारा चैन हरती हैं तुम्हारी अधखुली आँखें,**

**बहुत बेचैन करती हैं तुम्हारी अधखुली आँखें।**

अधखुली आँखों मे ब्रह्माण्ड को समा देने वाली कविता के पश्चात् कवि ने जीवन के बीतते क्षणों को कुछ इस प्रकार सुनाया - बीत रहे सपनों के दिन/रीत रहा जीवन घट ऐसे/मुठ्ठी में कसी हुई रेत/चाहकर भी रूके नहीं जैसे!!

जीवन जगतके ईमानदार स्वरों पर बेइमानी के पहरों और विसंगतियों को कवि ने कुछ ऐसे व्यक्त किया - बंदी हैं स्वर मेरे कौन गीत गाउँ? और कहो मीत तुम्हें क्या-क्या सुनाउँ? रोटी की ओट से झाँक रही कविता, आज कहाँ वासंती कोयल का गान रे, आँतों की ऐंठन पर मुगधा हुआ जाता मन, गाता संत्रश, पुलक उठते हैं प्राण रे, रीता है हर शतदल, उड़ता है मन-मधुक, ऐसे में कहो कहाँ, पुष्प राग पाउँ?..... आधी आवादी पर आज भी अनेक प्रताड़नाएँ - वर्जनाओं के विरोध में कवि अपना गीत लेकर खड़ा दिखता है- मुस्काएगा प्रात, चिरैया बोलेगी/ व्याधों से है घिरी, मगर मुँह खोलेगी !!..... कवि ने अपनी कविता पर्वत को लिया

'जाना होगा शर्त्तिया' में मंजिल पाने के लिए युवा वर्ग को कुछ यों प्रोत्साहित किया है। तेरे पंखों में सोया तूफान है/याद नहीं तुझको, तू ही हनुमान है/ जिस दिन तेरे भुजदण्डों में जोश जागा/ पर्वत को हिल जाना होगा शर्त्तिया!!

कवि ने 'रोटियाँ' कविता से श्रोताओं का मनमोहा - ताई-ताई रोटियाँ, अलग-अलग हैं रोटियाँ,/किसी की रोटी घी में डूबी, किसी की सूखी रोटियाँ!!..... इतना ही नहीं कवि ने मेघ के माध्यम से विरह का संदेश देते हुए गीत गाया-तपती धरती, तपता नभ, सरसाने आये मेघ, / पुनः यक्ष की विरह गाथा सहलाने आये मेघ !! ..... मंहगाई पर दृष्टि डालते हुए कविता - महंगाई सुरसा बन बैठी, जन-जन का उमंग निगले/कहिये राम आम आँगन में कैसे जगमग दीप जले?..... को श्रोताओं ने खूब सराहा। कवि ने अपनी दो गजलों को भी सुनाया, जिसका भरपूर आनंद लोगों ने लिया - अब न कुदरत से है गिफला कोई, /फूल काँटों में फिर खिला कोई !! तथा कुर्बानियाँ हुई कितनी, जिसको आकाश चढ़ाने में/किल लग रहा वही तिरंगा, हम सबको बतलाने में। ..... इसके अतिरिक्त कवि ने भोजपुर, अंगिका और मगही गीतों को भी सुनाकर लोगों का भरपूर मनोरंजन किया।

लगभग तेईस प्रतिनिधि गीतों - गजलों को सुनने के पश्चात् मुख्य अतिथि डॉ. कलानाथ मिश्र ने कहा कि कवि विशुद्धानंद एक उच्च काटि के कवि हैं, जो अपने गीतों में जिन विषयों को उठाते हैं उनका रेशा-रेशा श्रोताओं के समक्ष खुलता जाता है। उन्ही गीतों के परिसर में हमें खड़ा कर देते हैं, भाषा, भाव और बिम्ब का ऐसा रचाव सहजता से करते हैं कि किसी का भी इनके गीतों पर मुगध हो जाना स्वाभाविक हैं मैं भी मुग्ध हूँ। इन गीतों का शिल्प, बिम्ब सभी सहज और नवीनता लिये हुए हैं। इन गीतों के तुक भी अनायास मिले हैं। गीतों के सहज और सरल प्रवाह में कहीं नहीं लगता कि इसके लिए इन्हें कही भी भगीरथ प्रयास करना पड़ा हो। इस सारस्वत कार्यक्रम के विशिष्ट अतिथि डॉ. तैयब हसन पीडित के उद्‌बोधन के पश्चात् इसके अध्यक्ष श्री भगवती प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि 'एक नदी मेरा जीवन' (गीत-संग्रह), कालजयी बर्बरीक (खण्ड काव्य) और माथे माटी चंदन (भोजपुरी धारावाहिक नाटक) जैसे पुस्तकों के रचयिता कवि विशुद्धानंद किसी वाद या वर्ग के कवि नहीं अपितु जनता के कवि हैं। ये सरस और हृदयग्राही गीतों के सफल कवि हैं। इनका स्वस्थ रहना साहित्य जगत की उपलब्धि है।

✧ ✧ ✧

---

रचनाकार जाने माने कवि, लेखक एवं कथाकार हैं।

**महापंडित राहुल सांकृत्यायन वैसे रचनाकारों में सुमार हैं जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन की सृजन और संघर्ष के लिए समर्पित कर दिया। उनका यात्रा संस्मरण विश्व के इतिहास में मील का पत्थर प्रमाणित हुआ है। उन्होंने हिन्दी साहित्य भंडार को यात्रा-साहित्य, कहानी, उपन्यास, निबंध आदि अनेक विद्याओं से समृद्ध किया है।**

**राहुल सांकृत्यायन का जन्म 9 अप्रैल 1893 को हुआ था, उन्होंने 14 अप्रैल 1963 को अपना शरीर त्यागा। 'साहित्य यात्रा' के इस अंक में दस्तावेज स्तंभ के अंतर्गत हम उनकी कहानी 'मैना' प्रकाशित कर रहे हैं जो कि अवन्तिका के नवम्बर 1954 ई. वाले अंक में प्रकाशित हुई थी।**

# मैना

श्री राहुल सांकृत्यायन

**वैसे तो बिहार में खाते-पीते लोग भी देखा देखी अपने बच्चों के दो-दो नाम रखते थे, लेकिन पहले यह हक बाबू साहेबों को ही प्राप्त था बड़ा नाम कभी-कभी फुलस्केप की एक पूरी पाँती में समाता था। इतना बड़ा नाम लेना या याद रखना हर एक आदमी के वश की बात नहीं थी।**

दरिद्रता और भुखमरी की कालरात्रि यद्यपि हमारे देश के लिए नहीं बीती है, पर अँगरेजों और उनके सिरजे कुछ कालयवनों से मुक्ति जरूर मिली है। इन कालयवनों में एक था जमींदार वर्ग। धन कानून को खरीद सकता है, यह अब भी देखा जा सकता है। अँगरेजों की बनाई कचहरियाँ अब भी चल रही हैं। अब भी साल में दो-दो, चार-चार लाख कमाते, स्याह को सफेद करनेवाले वकील देश में प्रतिष्ठा पाते फल-फूल रहे हैं और कचहरियों का न्याय पहले से भी महँगा है।, फिर गरीब को न्याय पाने की क्या आशा हो सकती है? बड़े-बड़े जमींदार रियासती राजा न हो तो भी उस समय आपनी रैयत के हरता-करता थे, विशेष कर इस्तमरारी या तालुकदारी बंदोवस्तवाले बड़े-बड़े जमींदार। उनकी रियाया में किसी को

मजाल नहीं था कि मालिक की कचहरी छोड़ सरकारी कचहरी में आपसी झगड़े को ले जाय।

अंगरेजों ने 'बाबू' शब्द को बहुत सस्ता कर दिया, नहीं तो इस शब्द का मान राजा से थोड़ा ही कम था। लोगों की जुबान पर 'राजा बाबू' का शब्द एक साथ ही आता था। मामूली कलमघिस्सू के लिए यह शब्द कभी इस्तेमाल किया जायगा, अंगरेजी राज्य के पहले कोई इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। बाबू पहले राजा के छोटे कुमारों को कहा जाता था, अर्थात् उसका वही मूल्य था जो कि रियासतों में कुँवर का। उन्नीसवीं सदी में कितने ही 'बाबू' कहे जानेवाले लोग राजा और महाराजा बन गए यह भी इसी बात को सिद्ध करता है।

वैसे तो बिहार में खाते-पीते लोग भी देखा देखी अपने बच्चों के दो-दो नाम रखते थे, लेकिन पहले यह हक बाबू साहेबों को ही प्राप्त था बड़ा नाम कभी-कभी फुलस्केप की एक पूरी पाँती में समाता था। इतना बड़ा नाम लेना या याद रखना हर एक आदमी के वश की बात नहीं थी। पर, वह विशेष लिखापढ़ी के समय ही इस्तेमाल किया जाता था। हमारे चरितनायक का नाम बाबू विंध्यवासिनीप्रसादनारायण सिंह बहुत बड़ा नहीं कहा जा सकता, शायद इसी की कमी पूरी करने के लिए वह अंत में शर्मा भी जोड़ने लगे थे। लेकिन उनका छोटा नाम शंभूजी था। 'जी' लगा देने से असम्मान प्रकट करने का डर नहीं था। इसलिए परोक्ष में लोग बाबू साहेब को इसी नाम से पुकारते थे। यह विश्वास नहीं होता कि आज साठ शरदों के देखनेवाले शंभूजी की चार पीढ़ियों को देख चुके हैं वर्तमान शताब्दी के आरंभ में शंभूजी के पिता मन्नूजी के बाल गंगा-जमुनी थे, पर वह अभी साँढ़ से घूमते थे, जो इस वर्ग में अनहोनी सी बात थी। उनके यहाँ चिररोगी मरियल से ही पुरुष देखने में आते थे। घर की लक्षिमयाँ बेगमों से भी अधिाक परदे में रहती थीं, तीर्थे मे गंगास्नान के समय चारों ओर कनात से घिरी डुबकी लगाती थीं। ऐसी असूर्यपश्याओं को लोग यही समझते थे कि उनमें सभी पद्मिनी या उर्वशी होगी। पर, हाल में जब शताब्दियों के पिंजरे टूटे तब लोगों का यह भ्रम दूर हो गया। कोई सोच भी नहीं सकता था कि अंत:पुरों में एक नहीं, सैकड़ों कुरूपता में विश्वविजय प्राप्त करने वाली महिलाएँ इतने दिनों से पलती रहीं। इस भ्रम को वस्तुत: लोकप्रसिद्ध कहावत ही दूर कर देती थी- 'बाबू का बच्चा खबास और खबास का बच्चा बाबू'। बाबू की जगह राजा भी आप रख सकते हैं। किसी समय सामंत-कुल की सुंदरियाँ स्वयंवर करती थी। कुरूपाओं के स्वयंवर में प्रभुताशाली सामंत जायँगे, इसकी आशा ही नहीं की जा सकती थी। उस समय चुनी हुई संतानोत्पत्ति की संभावना थी। परंतु जब हमारे देश के सामंत गुड़िया भर रह गए, उनके हाथ का खड्ग केवल फोटो खिंचवाने के लिए रह गया तब वीरता और पौरुष पर बिकनेवाली, स्वयंवर करनेवाली सामंत-सुंदरियों की भी आवश्यकता नहीं रह गई। चाहे परदे के भीतर कैसे भी काले-पीले रक्तों का सम्मिश्रण होता रहे, पर यदि वह उच्च कुल में गिना जाता हो तो उस कुल की कन्या लेने योग्य समझी जाती थी। राजकुमारी या बाबू-कुमारी के सुंदर या असुन्दर होने से कोई फर्क नहीं पड़ता था, क्योंकि हर हालत में सामंतों को बुढ़ापे तक वैभव के अनुसार दर्जन-आध दर्जन रखेलियाँ और गाने-नाचानेवाली वेश्याएँ रखनी ही पड़ती थीं जिनके चुनाव में अवश्य रूप का पूरा ख्याल रखा जाता था। शंभूजी भी अपने वर्ग की इस परिपाटी का बड़ी बड़ाई के साथ पालन करते थे। वह अपने बाप की उम्र नहीं पा सकें। वही बात उनके बेटे की हुई और उनके पोते

की तरुणाई में शेषनाग के फण पर गड़ी जमींदारी-प्रथा खत्म हो गई, जिसके साथ ही गाँवों से यह राज्य-शासन भी उठ गया।

प्रथम युद्ध के आस-पास का समय था। शंभुजी की तरुणाई का मध्याह्न था। यद्यापि उनका वर्ण गोरा नहीं, साँवला था लेकिन उन्हें अपने पिता से हट्टा-कट्टा शरीर और कुछ सौंदर्य भी दायभाग में मिला था। यौवन, धन संपत्ति और प्रभुत्त्व के साथ काफी मात्रा में अविवेकिता भी उन्हें मिली थी, पर चौथी चीज को हम सहज नहीं कह सकते थे। उसके उत्पन्न होने में वह वातावरण और दरबारी कारण थे, जिनकी छत्रछाया में शंभूजी का लालन-पालन हुआ था। यदि बिल्कुल अविवेकी होते, तो उनका प्रताप मध्याह्न के सूर्य की तरह नहीं तप सकता था। उनकी जमींदारी की आमदनी पचास हजार भी नहीं थी। चाहे उनके कुछ गाँव मुसल्लम अपने रहे हों, पर 'राजधानी' में एक दर्जन हिस्सेदार थे। राजधानी की प्रजा चाहे अपनी हो या पराई, कुछ ही सालों की मलिकाई के बाद समझने लगी, कि पानी में रहकर मगरमच्छ से बैर करना बुद्धिमानी नहीं है। उस समय गाँवों में मोटरों का प्रचार नहीं हुआ था। प्रथम युद्ध के बाद जब गाँवों में मोटरें पहुँचीं, तब मोटरवालों में पहले शंभूजी ही थे। दूसरे बाबू लोग सोच रहे थे, सतयुग से चले आते हाथी रोब-दाब कायम रखने में जितने सहायक हैं, उतनी मोटरें नहीं हो सकतीं। मोटर लेने के पहले शंभूजी शाम के वक्त जोड़ी पर हवा खाने के लिए निकला करते थे, जिसके घोड़े उस समय के रुपयों में पाँच-पाँच सौ से कम के नहीं होते थे। बाबुओं की राजधानी में बाजार का होना अनिवार्य था और शंभूजी की राजधानी तो बहुत पुराने समय में बसी थी, जिस समय उनका वंश जिले के आधे की बात अतिशयोक्ति मान लेने पर भी तिहाई-चौथाई पर तो अवश्य शासन करता था। एक सकरी टेढ़ी-मेढ़ी कुछ अधिक चौड़ी गली चली गई थी, जिसे लोग सड़क कहा करते थे। उसके दिनों तरफ सौ-सवा सौ दूकानें थीं। जोड़ी में पैर से बजनेवाली घंटी लगी थी। टेढ़े-मेढ़े रास्ते में ऐसे भी उसके बजाने की जरूरत पड़ती, पर कोचवान हर दस कदम पर उसे जरूर बजा देता। घंटी का आवाज सुनते ही लोगों के कान नहीं, पैर खड़े हो जाते और सिर से टकराने वाले औसारे से बाहर चले आते। सवारी के सामने आते ही कमर दोहरी करके दोनों तरफ से लोग कोशिश करने लगते। बाबू साहेब की नजर जिधर पड़ जाती, उधर वह कभी-कभी सिर झुका देते, यद्यपि ऐसा करना आवश्यक नहीं था। दोहरी कमर से लगे सिर चाहे बाबू साहेब को न दिखाई पड़ें, पर यदि किसी ने कोरनिश करने मे जरा भी सुस्ती की, तो वह उनकी आँखों से नहीं बच पाता था। उसी समय साथ चलनेवाले मुसाहिब को हुकुम हो जाता। अगले दिन कचहरी में पेशी होती, और शायद ही कभी दस-पाँच से कम जुर्माना दिए जान बचती। जुर्माना लेना अँगरेजी कानून के सरासर खिलाफ था, पर गाँवों में जमींदार का कानून अँगरेजी कानून के भी ऊपर था। गफलत करने वाला चाहे अपनी प्रजा हो या पराई, उसे शंभूजी के हुकुम को मानना ही पड़ता था। यदि न माने, तो शंभू बाबू के एक दर्जन लठियल किस मर्ज की बाबा थे? यह सौभाग्य समझिए जो 'राजधानी' के दूसरे भागीदार जमींदार धन में उनसे छोटे और रोब में तो उनके पासंग भी नहीं थे। नहीं तो इसमें शक नहीं, दो मूजियों में खटपट हो जाती और गरीब अपने बचने की तदबीर निकाल लेते ।

दासू शंभू बाबू की राजधानी का एक मामूली बनिया था। सुरती-तंबाकू, लबंग-लाइची

जैसी दस-बीस चीजें उसकी छोटी सी दूकान में बेचने के लिए रखी रहती थीं। उनकी बिक्री से वह कैसे घर के पाँच परनियों के मुँह के लिए अन्न जुटा पाता था, यह समझना साधारण अर्थशास्त्री के समझने की बात नहीं हैं, पर वह गिरहस्ती चला लेता था। तभी तो उसे चिड़िया पालने का शौक चर्राया था। शंभूजी की राजधानी के तरुण बनियों को किसी-न-किसी चीज का शौक जरूर था। जो ज्यादा अच्छे माने जाते, वह सवेरे नहाकर गाँव की ठाकुरबाड़ी में ठाकुरजी का दर्शन कर चरणामृत ले आते। और आगे बढ़े हुए शाम को आरती के पहले घंटा-दो-घंटा झाल-ढोल पर गला फाड़ फाड़कर भजन गा आते। शौकीनों में कुछ तीतर पालते या कोई और पक्षी। कुत्तों के पालने का रिवाज नहीं था। बाजार की रखवाली के लिए वैसे ही बेमालिक के दर्जन दो दर्जन कुत्ते अनेरी रात की डयूटी बजाने के लिए तैयार थे। जिनकी संपत्ति की वे रखवली करते थे, उनसे वे नियमपूर्वक डंडा खाने के अधिकारी थे। दासू भी शौकीन तरुण था। उसने एक मैना पाल रखी थीं। तोते की उमर डेढ़ सौ वर्ष से भी अधिक होती है। अभी कुछ ही वर्षों पहले, 1814 ई. में पूना में पेशवा के महल से चुराया तोता विलायत में किसी अँगरेज के पास मौजूद था। मैना दस-बारह वर्ष से अधिक नहीं जी पाती, पर आदमी की बोली बोलने में वह तोते का कान काटती हैं। दासू ने जान-बूझकर तोते को न ले, मैना को नहीं पाला था। यदि उसे उस समय तोता ही मिला होता, तो वह उसे ही पाल लेता, यह जानते हुए भी कि वह मैना का मुकाबिला नहीं कर सकता। नेपाल और आसाम की मैना अच्छी बोलती है, पर दासू की स्थिति का आदमी ऐसी शौकीनी नहीं कर सकता था। यह संयोग ही समझिए, जो उसे ऐसी मैना हाथ लग गई थी, जो बड़ी बोलनेवाली निकली। छोटे बच्चे को ही लेकर पाला था। उसके साथ दासू और घरभर का प्रेम था। जब वह आदमी की कितनी ही बातें बोलने लगी; आने-जानेवालों से 'कौन है' और दूसरे सवाल-जवाब करने लगी। उसके साथ का प्रेम कई गुना बढ़ गया। दासू को अपनी मैना पर अभिमान था। उस नगरी में किसी के पास ऐसा पक्षी नहीं था। वह हमेशा उसे अपनी आँखों के सामने रखता। जब कभी पहुनाई के लिए जाता तब मैना को भी अपने साथ ले जाता। यद्यपि दासू ने कभी मुँह से नहीं कहा तथापि आठ-दस वर्ष पास रहते रहते - दासू का प्राण मैना में बसने लगा। उससे अधिक अच्छी स्थिति रखनेवालों ने सौ पचास देने का भी प्रलोभन दिया, पर दासू अपने प्राण को कैसे बेच सकता था।

कीर्ति फैलते-फैलते एक दिन शंभूजी के कान में पहुँची। किसी मुसाहिब ने उन्हें और चढ़ा दिया, शायद कसर निकालने के लिए। उसी शाम को शंभूजी का सिपाही दासू के पास पहुँचा। दासू मैना को कैसे दे सकता था? खाली हाथ लौटने पर शंभूजी का पारा $120^{0}$ पर चढ़ गया। पीटकर लाने का हुकुम हुआ। चपरासी ने ऐसा पीटा, कि दासू के प्राण मैना के घर से निकलने के पहले ही निकल गए। सारी नगरी जानती थी; कितनों ने अपनी आँखों देखा था, पर कोई मुँह खोलने के लिए तैयार नहीं था। दासू का खून पच गया।

# पुस्तक-समीक्षा

कृष्ण वीर सिंह सिकरवार

**पुस्तक का नाम : प्रेमचंद साहित्य विशेषज्ञ : डॉ0 कमल किशोर गोयनका**

**संपादक : डॉ0 मिथिलेश दीक्षित**

**प्रकाशक-उत्कर्ष पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, ए-685, आवास विकास हंसपुरम्, कानपुर-21**

**मूल्य-595/- रू0 (हार्डबाउंड संस्करण)**

**प्रथम संस्करण-2015, पृष्ठ-216**

डॉ. मिथिलेश दीक्षित के संपादन में सद्य: प्रकाशित कृति का शीर्षक है ''प्रेमचंद साहित्य विशेषज्ञ : डॉ0 कमल किशोर गोयनका''। यह पुस्तक अभी हाल ही में उत्कर्ष पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर से प्रकाशित हुई है। डॉ0 गोयनका देश के एक ऐसे चिंतक व आलोचक है जिन्होने अपनी उम्र का आधा हिस्सा प्रेमचंद साहित्य की खोजबीन व प्रेमचंद साहित्य के नये तथ्यों को उद्घाटित करने में लगा दिया एवं प्रेमचंद साहित्य की खोज का यह सिलसिला आज भी निरंतर जारी है ।

प्रस्तुत पुस्तक में देश के प्रतिष्ठित; लब्धप्रद आलोचक व चिंतको के 40 शोधात्मक, समीक्षात्मक आलेख प्रकाशित किये गये है । यह आलेख डॉ0 दीक्षित ने वर्ष 2013 में डॉ0 गोयनका के 75 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में हीरक जयंती वर्ष के रूप में याद करने हेतु विभिन्न विद्वानों व आलोचको से लिखवाये थे। इन आलेखों मे लेखको ने अपने-अपने तरीके से डॉ0 गोयनका के व्यक्तित्व व कृतित्व के रूप को बारीकी से समेटकर पाठकों हेतु प्रस्तुत किया है ।

यह पुस्तक अपने प्रकाशन के कई वर्षो बाद प्रकाशित हुई है । इस पुस्तक का प्रकाशन कई कारणों से टलता रहा जिस कारण यह पुस्तक समय पर प्रकाशित नही हो पायी । इस संबंध में पुस्तक की संपादिका डॉ0 दीक्षित स्वीकारोक्ति करती है कि ''ग्रन्थ रूप में प्रस्तुति हेतु मेरे पास सामग्री आ गयी थी, परन्तु मैं डॉ0 गोयनका के समग्र आनुसंधानिक और समीक्षात्मक साहित्य के साथ उनके जीवन एवं व्यक्तित्व से संबंधित जानकारी उनकी

पारिवारिक पृष्ठभूमि, विभिन्न संदर्भो में लिये गये फोटाग्राफ्स आदि के साथ चाहती थी और इस ग्रंथ को दो भागों में प्रस्तुत करना थी, परन्तु डॉ0 गोयनका जी की अत्यधिक व्यस्तता के कारण मैं सामग्री उपलब्ध नही कर पायी ।'' (भूमिका)

शोध की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्व कम नही है क्यों कि जो सामग्री इस पुस्तक में दी गयी है वह अन्य जगह देखने को नही मिलेगी । समस्त आलेख पठनीय व रोचक है जो प्रेमचंद साहित्य का विशद् विश्लेषण करते है ।

पुस्तक में शोधात्मक आलेखों के साथ-साथ डॉ0 गोयनका की विभिन्न पुस्तकों की समीक्षा भी इस ग्रंथ मे शामिल कर ली गयी है । जो सही कदम नही था, इस प्रवृत्ति से थोड़ी सावधानीवश बचा जा सकता था क्योकि पुस्तक समीक्षा केवल एक पुस्तक के संदर्भ में ही जानकारी देती है न कि डॉ0 गोयनका के सम्पूर्ण चरित्र व लेखन के संबंध में । संपादिका चाहती तो इस गलती को सुधारा जा सकता था । हालांकि इन कमियों के बावजूद प्रस्तुत पुस्तक का महत्व कम नही हो जाता है ।

डॉ0 गोयनका के साहित्य व प्रेमचंद साहित्य में जो पाठक रूचि रखता हो उसके लिये 216 पृष्ठों की इस पुस्तक में कई महत्वपूर्ण शोधात्मक आलेख है जो शोधार्थियों के लिए शोध की दृष्टि से महत्व के साबित हो सकते है । अत: पाठकों को एक बार अवश्य इस पुस्तक को देखना चाहिये ।

पुस्तक के अंत में डॉ0 दीक्षित द्वारा डॉ0 गोयनका का लिया गया एक लंबा साक्षात्कार शामिल किया गया है जो पुस्तक की गरिमा को और बढ़ाता है । इस साक्षात्कार में डॉ0 गोयनका द्वारा दी गयी कई महत्वपूर्ण जानकारी ऐसी है जिनसे पाठक अभी तक अनभिज्ञ था । अंत में डॉ0 गोयनका के व्यक्तित्व व कृतित्व का विशद् विश्लेषण दिया गया है जो पाठको हेतु अमूल्य निधि है । इसमे डॉ0 गोयनका का जीवन परिचय, प्रेमचंद संबंधी कार्य, प्रेमचंद पर प्रकाशित पुस्तके, प्रेमचंद पर प्रकाशनाधीन पुस्तके, प्रेमचंद पर शीघ्र पूर्ण होने वाली पुस्तके, अन्य प्रकाशित पुस्तके, प्रेमचंद संबंधी शोधकार्य पर देश विदेश के विद्वानों द्वारा मान्यता, साहित्यिक संस्थाओं से डॉ0 गोयनका का संबंध, मॉरीशस में हिंदी साहित्य के विकास के लिये कार्य, अमेरिका, इंग्लैण्ड, चीन ,जापान, सूरीनाम, फिजी, ट्रिनिनाद आदि देशों के हिंदी साहित्य में विकास की योजनाऐं, डॉ0 गोयनका को अभी तक मिले पुरस्कार एवं सम्मान का ब्यौरा आदि के तहत दी गयी जानकारी पाठकों के लिये अत्यंत लाभप्रद साबित होगी ।

समग्रत: कहा जा सकता है कि जो पाठक प्रेमचंद साहित्य में रूचि रखता हो उसके लिये यह पुस्तक किसी वरदान से कम नही है । 216 पृष्ठो की इस पुस्तक में पाठकों को बहुत कुछ देखने को मिलेगा । पुस्तक की साज सज्जा व गेट-अप अति उत्तम है । इस पुस्तक का आवरण पृष्ठ पुस्तक की खूबसूरती और भी आकर्षक बनाता है। छपाई उम्दा व पैपर क्वालिटी भी बहुत बेहतरीन है। मुद्रण की अशुद्धियाँ न के बरावर है इस कारण पाठक को पुस्तक पढ़ने मे कठिनाई उत्पन्न नहीं होती है। ऐसी बेहतरीन पुस्तक का सभी जगह स्वागत होना चाहिये तथा प्रेमचंद साहित्य में जिज्ञासा रखने वाले समस्त पाठको को एक बार इस ऐतिहासिक धरोहर को अवश्य देखना चाहिये ।

✧ ✧ ✧

**आवास : क्रमांक एच-3, राजीव गांधी प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, एयरपोर्ट बायपास रोड, भोपाल-462033 (म0प्र0)**
**मो. : 09826583363, ई-मेल** krishanveer74@gmail.com